अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष-39, अंक-12, 1-15 फरवरी, 2016

सर्वोदय-विचार की खूबी

"सर्वोदय-विचार की खूबी ही यह है कि वह स्वतंत्र और भिन्न-भिन्न विचारों की गुंजाइश रखता है। विशिष्ट व्यवस्था या विशिष्ट बाह्य आकार का आग्रह नहीं रखता; वह शिकंजे को नहीं मानता। ढांचा बनाना नहीं चाहता। वह संघटन को शक्तिशाली नहीं मान बैठता, बल्कि सत्य की शक्ति पहचानता है।"

–विनोबा

अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित
अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख्य-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य-अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक
वर्ष : 39, अंक : 12, 1-15 फरवरी, 2016

संपादक
बिमल कुमार
मो. : 9235772595

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह भवानी शंकर 'कुसुम'

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ, साधना केन्द्र
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

मूल्य	:	पांच रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC No. UBIN-0538353
Union Bank of India

विज्ञापन दर

पूरा पृष्ठ	:	2000 रुपये
आधा पृष्ठ	:	1000 रुपये
चौथाई पृष्ठ	:	500 रुपये

इस अंक में...

1. कालानुक्रमता से परे गांधी... 2
2. पर्यावरण, धर्म तथा विकास के... 3
3. जीवन का अर्थ : अर्थमय जीवन... 4
4. आर.एस.एस. की शक्ति का रहस्य... 7
5. अमीरी : पीर पराई न जाने रे... 8
6. गरीबी रेखा नहीं, अमीरी रेखा... 11
7. जनसंचार के प्रवाह सूत्र... 14
8. पठानकोट हादसा : आजादी के बाद...16
9. गांधी यानी जो-जो जँचा, उसका... 18
10. आशा और आकांक्षा... 19
11. सर्वोदय-विचार की खूबी... 20

संपादकीय

कालानुक्रमता से परे गांधी

विचारों को कालानुक्रम में बांधने का जो प्रयास पश्चिम के विद्वानों ने किया, गांधी उनसे ऊपर रहे। परम्परावादी, आधुनिक या उत्तर आधुनिक, गांधी इन तीनों काल-श्रेणियों से ऊपर हैं। इसी कारण उनके बारे में दृष्टिकोण बनाने में पश्चिमी ज्ञान मीमांसा बेकार है।

गांधी इस मायने में परम्परावादी नजर आते हैं कि कई बार उन्होंने सत्य के उद्घाटन के लिए परम्परागत प्रतीकों को चुना। या इसलिए भी क्योंकि वे आध्यात्मिकता एवं नैतिकता की कसौटी पर बुनियादी मूल्यों को कसते नजर आते हैं। लेकिन ये सारे प्रयास कठमुल्लेपन के प्रयास नहीं हैं। गांधी अंतरात्मा की आवाज को समझने की निरंतर आंतरिक यात्रा को सत्य की खोज का माध्यम बनाते रहे। यह निरंतर आंतरिक यात्रा आधुनिक विमर्श में स्थान नहीं पाती है। इस कारण बिना इसका महत्त्व समझे आधुनिकतावादी गांधी को परम्परावादी की श्रेणी में डाल देना चाहते हैं। जबकि निरंतर आंतरिक यात्रा द्वारा अंतरात्मा की आवाज को पहचानने से ही मनुष्य को बनावटी एवं मशीनीकृत होने से बचाया जा सकेगा। इस रूप में गांधीजी का यह प्रयास आधुनिकतावाद के शैतानी पक्ष की एक जबरदस्त काट है।

आधुनिकता की प्रक्रिया बनावटी विनिर्माण की है। मनुष्य को भी विनिर्मित करना है—उसकी शिक्षा-दीक्षा, कार्य-कुशलता, जीवन-पद्धति, खान-पान प्रत्येक स्तर पर उसे एक सांचे में ढालने का काम हो रहा है। जिसमें आंतरिक यात्रा की न जरूरत है, न गुंजाइश है। मनुष्य का सारा ध्यान बाहरी तथा इन्द्रिय सुख की ओर मोड़ दिया गया है। मनुष्य-मनुष्य के बीच के संबंध का माध्यम भी बाहरी इकाइयों एवं इन्द्रिय सुख देने वाली इकाइयों तक सीमित हो गया। इससे मनुष्य की 'स्व' की समझ स्वार्थ पर जाकर खत्म हो गयी। 'स्व' की विस्तार ही इसमें खत्म हो गयी, अतः 'स्व' में 'सर्व' के समाहित होने की अनुभूति होगी, यह संभावना भी खत्म हो गयी। आधुनिकता मनुष्य को अंतरात्मा से च्युत एक यांत्रिक मनुष्य में बदलती चली गयी।

लोकतंत्र के बारे में कहा गया है कि यह लोगों को जोड़ने वाली तथा लोगों के द्वारा संचालित व्यवस्था होगी। जबकि एक वोट देने के अलावा, अन्य प्रत्येक स्तर पर लोक वंचित होते चले गये—आत्म सत्ता से भी वंचित होते चले गये। पूंजीवाद ने तो लोक को पूर्णतः वंचित अवस्था में डाल दिया, मशीन में काम करने वाले एक यांत्रिक पुर्जे की तरह। सबसे बड़ी बात यह हुई कि जिन्होंने पूरी निष्ठा से इस व्यवस्था का निषेध करना चाहा, आधुनिकता की इस भौतिकवादी प्रेरणा का निषेध करना चाहा, वे भी जाने-अनजाने इसके प्रभाव से बच न सके। गांधी एकमात्र व्यक्ति थे, जो इसका विकल्प संपूर्णता में प्रस्तुत करते हैं। इसमें अंतरात्मा से विचलन या च्युत होने की संभावना नहीं है। लोकसत्ता के निर्माण में और लोक अर्थनीति के निर्माण में जिस प्रेरणा व अंतरात्मा के शक्ति की आवश्यकता है, वह निरंतर आंतरिक यात्रा द्वारा ही संभव होगी।

एक और बात, गांधीजी इस विकल्प को तैयार करने के लिए निषेध व रचना की शुरुआत तत्काल करने की बात में विश्वास रखते थे। युग परिवर्तन होगा तब परिवर्तन होगा या सत्ता परिवर्तन होगा तब नया विकल्प आयेगा, ऐसा उनकी कार्य-योजना में नहीं था। इसी कारण वे निषेध के लिए बहिष्कार एवं सत्याग्रह तथा निर्माण के लिए वैकल्पिक रचना को निरंतर धार देते रहे। साथ ही यह भी सुनिश्चित करते रहे कि सत्याग्रह व रचना, ये दोनों केवल बाह्य परिवर्तन का माध्यम नहीं बनेंगे, बल्कि आंतरिक परिवर्तन का भी माध्यम बनेंगे। मनुष्य अंतरात्मा से च्युत होने की प्रक्रिया से उलट, अंतरात्मा से जुड़ने की प्रक्रिया में शामिल हो जायेगा।

इसी कारण व्यक्ति परिवर्तन, मूल्य परिवर्तन तथा व्यवस्था परिवर्तन तीनों का चक्र एक साथ चलायमान हो जायेगा। मनुष्य के मूल सत्त्व एवं आध्यात्मिकता की निरंतरता के कारण ये प्रयास केवल परिस्थिति सापेक्ष या क्षणिक महत्त्व के नहीं थे। इस रूप में गांधी उत्तर आधुनिकता से भी आगे थे। वे मनुष्य की चेतना, अंतरात्मा तथा आध्यात्मिकता की निरंतरता को स्वीकार करते थे तथा मूल्यों तथा व्यवस्थाओं के निरंतर बदलाव को उस आलोक में ही स्वीकार करते थे।

बिमल कुमार

पर्यावरण, धर्म तथा विकास के अंर्तसंबंध

❑ डॉ. भारतेन्दु प्रकाश

मानवीय व्यवस्था में सभी के कर्तव्य परस्पर पूरकता में निहित होते हैं। समाज की व्यवस्था सबकी भलाई और परस्पर एक दूसरे के साथ सहयोग एवं सुरक्षा के लिए ही हुई है, परस्पर एक दूसरे से लड़ने झगड़ने के लिए नहीं। अब यह हमें ही तय करना होगा कि हम देवता बनें या दानव।

भारत में पर्यावरण, धर्म तथा विकास इन तीनों के आपसी संबंध अधिकांश लोगों के लिए पहेली बने हुए हैं। इसीलिए उन्हें एक दूसरे का पूरक समझने में तकलीफ होती है। विकास की गलत समझ के कारण सरकारें भी विकास का आकर्षण दिखाकर पर्यावरण को पहुंचने वाले नुकसान को तथा उससे उत्पन्न होने वाली भावी आपदाओं को नजरअंदाज कर देती हैं। धर्म को अंग्रेजी के शब्दों में रिलीजन या फेथ का पर्यायवाची मानकर उसका पर्यावरण के साथ जो रिश्ता है, उसे पूरी तरह नकारने का अभ्यास सभी के लिए एक आम बात हो गयी है। आइए इन्हें समझने का प्रयास करें :—

पर्यावरण : हमारे चारों ओर जो कुछ भी हमें दिखाई या सुनाई देता है, वही सब पर्यावरण कहलाता है। इसकी सीमा पृथ्वी से आकाश तक है। हमारे घर के अंदर परिवारजन, गांव, नगर तथा पास-पड़ोस के लोग, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, जंगल, नदी, पहाड़, कुएं, तालाब, हवा, शोरगुल, चांद, सूरज तथा आकाश आदि सभी कुछ पर्यावरण के दायरे में आता है। अतः यह मानना कि केवल प्रकृति अर्थात जल, जंगल, जमीन और पहाड़ ही पर्यावरण है, यह अधूरी समझ है। मनुष्य प्रकृति का एक घटक होने के कारण पर्यावरण का ही एक हिस्सा है, उससे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं।

धर्म : जीवन के सुचारु निर्वाह के लिए व्यक्ति को उपरोक्त पर्यावरण यानी व्यक्ति, समाज एवं प्रकृति तथा दैवी शक्ति (परमेश्वर) के प्रति तथा सबके साथ पारस्परिक संबंधों में जो स्वस्थ संतुलन बनाने का काम है, वही धर्म है। प्रकृति के हर घटक का एक धर्म होता है, जैसे पानी का धर्म शीतलता, प्यास बुझाने वाला, धरती को नम बनाने तथा उसमें या शरीर में पैदा होने वाले जहरीले तत्त्वों को अपने में घोलकर बाहर निकालने वाला आदि है। अग्नि का धर्म अपनी गर्मी के माध्यम से ठंडक को दूर करने वाला, जल को सोखकर उसे वाष्प में बदलने वाला, वस्तुओं को पकाने वाला एवं वातावरण को शुद्ध करने वाला आदि है। इसी तरह प्रकृति के सभी घटकों वायु, धरती, जंगल, पहाड़, पेड़-पौधे, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि को उनके विशेष धर्मों से समझा जा सकता है। मनुष्य प्रकृति का महत्त्वपूर्ण घटक है, जिसका धर्म सद्भाव के साथ पारस्परिक रक्षा करते हुए संतुलन बनाये रखने का है। प्रकृति ने उसे बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां सौंपकर एक सक्षम घटक बनाया है। जंगली पशुओं को अपनी सुरक्षा के लिए सींग, दांत तथा नाखून आदि दिये पर मनुष्य को ऐसा कुछ अंग न देकर उसे एक शांतिप्रिय, सद्भावपूर्ण तथा सबके साथ संतुलन बनाकर पारस्परिक सुरक्षा का दायित्व दिया है। इसी को पूरा करने के लिए मनुष्य ने आपस में मिलकर समाज बनाया, सघन बस्तियां, गांव तथा नगर आदि बसाए और सामाजिक व्यवस्थाएं तथा कर्तव्य निर्धारित हुए।

इस बात का दुःख है कि धर्म की आज जो समझ है, वह केवल विश्वास (मान्यता) अथवा सम्प्रदाय के दायरे में आती है। सामान्य तौर पर व्यक्ति अपने वर्ग की मान्यताओं तथा सम्प्रदाय को धर्म मानकर आपस में अपने संबंधों को तनावपूर्ण बनाता रहता है और इस प्रक्रिया में वास्तविक धर्म की अवहेलना करता रहता है। धर्म केवल आरती या पूजा करने में नहीं है, न ही केवल नमाज अदा करने या प्रार्थना करने में है।

विकास : मनुष्य समाज में मानवीय गुणों का समावेश तथा ऊपर बताये अनुसार धर्म की समुचित व्यवस्था को ही विकास कहा जायेगा। विकसित अवस्था में संतुलित जीवन, सबको ज्ञान, सभी घटकों के प्रति परस्पर सम्मान, सबको सुख तथा सबकी सुरक्षा सुनिश्चित होना अनिवार्य है। बाहरी दिखावे की वस्तुएं, सड़क, भवन, मशीनरी, सुविधाओं का निर्माण या फैलाव इन सबको मानवीय विकास मानना एक अधूरी समझ का परिणाम है, जो समाज तथा शासन व्यवस्था सभी को बरगलाता है। यदि मनुष्य के समाज में पारस्परिक भाईचारा, सद्भाव, प्रेम, विश्वास तथा सम्मान का ही अभाव हो तो सड़क, भवन, बाजार, रेल, हवाई जहाज, अस्पताल, विद्यालय तथा व्यवस्था को विकास का नाम देना क्या पूरी तरह भ्रामक नहीं है?

पर्यावरण, धर्म तथा विकास इन तीन शब्दों को उपरोक्त समझ के आधार पर यह स्पष्ट है कि ये तीनों आपस में अभिन्न हैं, ये एक दूसरे के पूरक तथा सहयोगी हैं। अतः किसी एक के मूल्य पर दूसरे को बढ़ावा देने की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं है। हमें सम्प्रदायों की सीमा को समझना होगा। किसी भी मान्यता को मानना अनुचित नहीं है, पर मान्यताओं एवं कर्मकांडों को ही धर्म मान लेना, मानवीय संबंधों को तनावपूर्ण करते हुए, प्रकृति तथा आसपास रहने वाले पशु-पक्षी, वनस्पति तथा समाज के लोगों को नुकसान पहुंचाते हुए, जंगल, पहाड़, नदी, कुओं तथा तालाबों को नष्ट करते हुए जो भी कार्य किया जायेगा, वह विकास नहीं है, यह ध्यान रखना होगा। मानवीय व्यवस्था में सभी के कर्तव्य परस्पर पूरकता में निहित होते हैं। समाज की व्यवस्था सबकी भलाई और परस्पर एक दूसरे के साथ सहयोग एवं सुरक्षा के लिए ही हुई है, परस्पर एक दूसरे से लड़ने झगड़ने के लिए नहीं। अब यह हमें ही तय करना होगा कि हम देवता बनें या दानव। ❑

जीवन का अर्थ : अर्थमय जीवन

❑ अनुपम मिश्र

इस दुनिया में हम कितने भी बड़े उद्देश्य को लेकर, लक्ष्य को लेकर दीया जलाते हैं, तेज हवा उसे टिकने नहीं देती। हम तरह-तरह से कोशिश करते हैं उसे अपनी हथेलियों से बचाने की, पर यह हवा है कि हमारी सारी कोशिशों पर पानी फेरती है। शायद हमारे जीवन के दीये में पानी ही ज्यादा होता है, तेल नहीं। स्नेह की कमी होगी इसलिए जीवन बाती चिड़चिड़-तिड़तिड़ ज्यादा करती है, एक-सी संयत होकर जल नहीं पाती। न हम अपना अंधेरा दूर कर पाते हैं, न दूसरे का।

आजकल अकसर ऐसी बैठकों में, सभा सम्मेलनों के प्रारम्भ में एक दीपक जलाया जाता है। यह शायद प्रतीक है, अंधेरा दूर करने का। दीया जलाकर प्रकाश करने का। इसका एक अर्थ यह भी है कि अंधेरा कुछ ज्यादा ही होगा, हम सबके आसपास।

यह अंधेरा बाकी समय उतना नहीं दिखता, जितना वह तब दिखता है जब हम अपने मित्रों के साथ ऐसी सभाओं में बैठते हैं। तो दीये से कुछ अंधेरा दूर होता होगा और शायद आपस में इस तरह से बैठने से, कुछ अच्छी बातचीत से, विचार-विमर्श से भी अंधेरा कुछ छंटता ही होगा। शायद साथ चाय, कॉफी पीने से भी।

ऐसा कहना थोड़ा हल्का लगे तो इसमें संस्कृत का वजन भी डाला जा सकता है : *ओम सहना ववतु, सहनौ भुनक्तु आदि।* दीया जलाने का यह चलन कब शुरू हुआ होगा, ठीक कहा नहीं जा सकता। इससे मिलती-जुलती प्रथा ऐसी थी कि जब ऐसी कोई सभा-गोष्ठी होती, अतिथियों के स्वागत में मंच के सामने पहले से ही एक दीया जलाकर रख दिया जाता था।

विनोबा किसी जगह गये थे। वहां उन्हें कुछ बोलना भी था। उनके स्वागत में मंच पर एक दीया जलाकर रखा गया था। हवा भी चल रही थी। आयोजक बाती की लौ को टिकाए रखने की खूब कोशिश कर रहे थे। आसपास खड़े रहकर अपनी हथेलियों की आड़ से दीये को जलाए रखने की कोशिश में लगे रहे। सबका ध्यान उसी तरफ। अंधेरा जो भागना था। पर दीया टिक नहीं पाया। वह बुझ ही गया।

विनोबा ने अपनी बातचीत इसी से शुरू की थी। उन्होंने कहा कि आसपास की हवा जब शांत हो, तभी दीया जलता है। अगर हवा प्रतिकूल रही, हवा जोरों से बहती रहे तो दीपक टिकता नहीं। फिर वे हवा से दीपक पर आये। उन्होंने कहा कि हवा शांत हो पर यदि दीपक में तेल कम पड़ा है तो भी वह टिक नहीं पाता। हवा से दीपक और फिर विनोबा दीपक से मनुष्य पर आते हैं। तेल यानी चिकनाई। स्नेह भी इसी अर्थ में बना शब्द है। वे आगे कहते हैं कि जैसे दीपक में तेल की, स्नेह की जरूरत है, वैसे ही मनुष्य में भी, हम सबके भीतर भी स्नेह की जरूरत है।

दीपक जलते रहने के लिए बाहर की हवा भी शांत होनी चाहिए और तेल भी होना चाहिए। उसी तरह समाज की रचना भी शांतिमय होनी चाहिए और हम सबमें भी स्नेह की मात्रा भरपूर होनी चाहिए। तब जलता रह पाता है हमारा यह दीया। जीवन का दीया भी।

आज हम जीवन का अर्थ जानने मिल बैठे है, जीवन तो हम सबका है ही। इसलिए सबसे पहले तो मुझे खुद अपनी पोल आप सबके सामने खोल देनी चाहिए।

जीवन का अर्थ जानने की कोशिश में हमारी यह उमर कोई काम नहीं आती। वह शायद अनुभव है जो ऐसी बातें सोचने में काम आता होगा। जो जीवन मैंने जी लिया है, मेरे हिसाब से ऐसा अनुभव मेरे पास है नहीं। पिछले हफ्ते मैं पूरे अड़सठ वर्ष का हुआ हूं। कितना बचा होगा शेष जीवन, वह तो पता नहीं। पर आप में से कई लोगों को अभी एक लंबी पारी खेलनी है।

मेरा जीवन, मेरा अनुभव कोई गहरा तो है नहीं, इसलिए इतने उथले पानी में तैरना सीखने-सिखाने में यों भी कोई खास डर की बात नहीं होगी। जहां से हमने बात शुरू की थी, एक बार वापस वहीं लौटें। पिछले कोई 200-300 बरसों से पूरी दुनिया में तेज हवा चल रही है। पहले भी हवा चलती रही होगी पर तब पूरी दुनिया एक दूसरे से बहुत दूर थी और कटी हुई भी थी। उस दुनिया में हवाएं भी टुकड़ों में बंटी रही होंगी। जीवन तब भी कोई आसान न रहा होगा, एक बड़ी आबादी के लिए। फिर भी उतना कठिन और निरुद्देश्य भी नहीं रहा होगा, जितना कि वह आज बना दिखता है।

इस दुनिया में हम कितने भी बड़े उद्देश्य को लेकर, लक्ष्य को लेकर दीया जलाते हैं, तेज हवा उसे टिकने नहीं देती। हम तरह-तरह से कोशिश करते हैं उसे अपनी हथेलियों से बचाने की, पर यह हवा है कि हमारी सारी कोशिशों पर पानी फेरती है। शायद हमारे जीवन के दीये में पानी ही ज्यादा होता है, तेल नहीं। स्नेह की कमी होगी इसलिए जीवन बाती चिड़चिड़-तिड़तिड़ ज्यादा करती है, एक-सी संयत होकर जल नहीं पाती। न हम अपना अंधेरा दूर कर पाते हैं, न दूसरे का।

हम पढ़-लिख गए, कुछ लोगों को ही जीवन का अर्थ जानने की इच्छा है। हम ही कुछ हैं जो मानते हैं कि अर्थमय जीवन कैसे जीएं। लेकिन हम थोड़ा अपने भीतर झांके तो हममें से ज्यादातर का जीवन एक तरह से

कोल्हू के बैल जैसा ही बना दिया गया है। इसमें कितना हमारा हाथ है, कितना हाथ परिस्थितियों का है, मालूम नहीं। पर हम गोल-गोल घूमते रहते हैं। आंखों पर पट्टी बांधे।

कोल्हू के बैल की पट्टी तो कोई और बांधता है, यहां तो हम खुद अपनी पट्टी बांधते हैं। फिर एक-सा जीवन जीते-जीते थकने लगते हैं। दिल्ली की गाड़ियों को तो सम-विषम, ऑड-ईवन नंबर के ताजे नियम से कुछ आराम भी मिलने लगा है। पर हमारे जीवन की गाड़ी का कोई नंबर नहीं होता।

आधार कार्ड बन गया होगा, पैन कार्ड, मतदाता पहचान पत्र होगा। तब भी हमारे जीवन का कोई नंबर नहीं होता है। इसलिए इसे रोज कोल्हू में, एक न दिखने वाले कोल्हू में, अदृश्य कोल्हू में जुतना ही है।

तो एक-सा जीवन जीते जाने की थकान से ही हमें नई-नई बातें सूझती हैं। कोल्हू का बैल अपनी तरक्की, अपने लिए नये अवसर, अपने लिए नये सार्थक अवसर की खोज करता है। नया पैकेज खोजता है। चाबुक मार दें तो बैल कोल्हू में घूमते-घूमते अपने जीवन का अर्थ भी खोजने लगता है! कोल्हू का बैल, इस विषय पर भाषण भी देने लगे तो आप अचरज न करें।

कोल्हू कई तरह के हैं, महंगे हैं, कम घेरे के हैं, बड़े-बड़े घेरों के हैं। कई तरह के विचारों के हैं तो कई तरह के धर्मों के हैं। इनमें से हरेक अपने को बाकी से श्रेष्ठ मानता है। सर्वोत्तम। और उसी में अपना जीवन सफल सार्थक हो सकता—ऐसा दावा करता है।

समाज का तना कमजोर होता जाता है, पर शाखाओं की संख्या बढ़ती जाती है। पेड़ वाली शाखाएं नहीं। संगठन वाली, संघ वाली शाखाएं। हर विचार, हर धर्म अपना झंडा लहराता है और दूसरे झंडों से ऊपर उठना चाहता है। हम कुछ विचारों को अच्छा मानते हैं, कुछ को घटिया। तो हमें लगता है हमारा विचार कैसे फैले।

जीवन की सारी सार्थकता हमें अपने ही विचार को फैलाने में दिखने लगती है। हिंसा को परिवर्तन का साधन बनाने वाले भी अपनी शाखाएं बढ़ाते चलते हैं और यही प्रवृत्ति अहिंसा को मानने वालों में भी मिलती है। सबको अपना संगठन बढ़ाना है, बड़ा करना है। बजट बढ़ाना है, कार्यकर्ता बढ़ाना है। कार्यक्रम, गतिविधियां बढ़ानी है। दिन दूनी, रात चौगुनी उन्नति करनी है—इसी में हमें जीवन सफल होता दिखने लगता है।

हमें अपने विचार की कमियां नहीं दिखती। आंख में पट्टी बंधी रहती है। पर दूसरे विचारों की कमियां हमें एक्सरे की तरह बेहद साफ दिखने लगती हैं। सारा जहान देखा हो या न देखा हो हम कविता लिख जाते हैं, गीत गाते जाते हैं कि सारे जहां से अच्छा...।

विनोबा इस गीत में थोड़ा कुछ और जोड़कर एक बड़ी बात की तरफ इशारा कर देते हैं : *सारे जहां से अच्छा 'क्योंकि' हिन्दोस्ता हमारा।* इस 'क्योंकि' को अपने जीवन से अलग करना बहुत ही कठिन काम है। क्योंकि मेरा विचार, मेरा धर्म, मेरी संस्था, मेरा संगठन, मेरा समाज, मेरा देश, मेरा बेटा-बेटी। कहीं दामाद भी।

न जाने कितने सौ बरस पहले लिखे गये संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम' में एक ऐसा ही रिश्ता राजा के साले का भी सामने आ गया था। संक्षेप में कहें तो, क्योंकि मेरा कोल्हू गोल-गोल घूमते रहने से कुछ परिणाम तो आते ही हैं। कुछ तेल निकल आता है। थोड़ी-बहुत खली भी मिलती है। बैल को अगले दिन घूमते रहने के लिए प्रायः ठीक-ठाक चारा मिल जाता है। ठीक न हो तो फिर असंतोष भी।

मैं खोज तो नहीं पाया हूं, पर कहीं विनोबा ने कहा है कि वेदों में युद्ध का एक नाम 'मम सत्य' भी है। मेरा सच, बस मेरा सत्य। इसमें युद्ध के न सही, विवादों के बीज तो छिपे रहते ही हैं। पिछले वर्ष इन्हीं दिनों में अफ्रीका के एक भाग में एक भयानक वायरस फैला था—ई बोला। न जाने कितने जानें गयी थीं। तब हमारे मित्र दिलीप चिंचालकर ने ई बोला वायरस के साथ आई बोला वायरस भी कहा था, यानी मैं बोला वायरस। फिर और न जाने कब हमें हमारा यह इतना प्रिय सत्य अचानक अर्धसत्य लगने लग जाता है। तब उसे छोड़ हम एकदम उससे उलटे किसी सत्य से जुड़ जाते हैं। अपने आसपास टटोलकर देखें। छोटे से लेकर कई बड़े नाम विचारों की अदला-बदली में यहां से वहां घूमते मिल जायेंगे। यों यह कोई गलत बात भी नहीं है।

जीवन यात्रा में एक विचार यात्रा भी चलती है। इसे अच्छे अर्थों में देखें तो यह मन का, दिमाग का खुलापन भी लगेगा। कल तक हम एक विचार को मानते थे, आज हमें उसकी कुछ सीमाएं दिख गयीं तो हमने उसे बिना मोह के छोड़ दिया। यह तो गुण ही कहलायेगा। कुछ बड़े अच्छे लोगों का जीवन बम बनाने से शुरू होता है, पर बाद में उन्हें आध्यात्मिक ऊर्जा भी दिखायी देती है। लेकिन यदि यह गुण है तो दूसरे को भी ऐसी छूट, ऐसा अवसर देना होगा। वह तो हम देना नहीं चाहते। पहले किसी एक विचार से मित्रता और फिर उससे भिन्नता, उससे अलग होना हमें बस षड्यंत्र ही दिखता है।

इसलिए जीवन का अर्थ जानने के लिए यदि हम किसी एक विचार, एक धर्म, एक समाज, एक परम्परा में रहस्य खोजते रहें तो हम खुद तो कुछ संतोष शायद पा बैठें, पर इससे सबको अर्थमय जीवन जीने का रास्ता नहीं मिलने वाला। अच्छा जीवन, अगर अपने आप में साध्य या मंजिल बन जाये तो शायद हम उस तक पहुंच भी न पायें। इसमें भटकाव की बहुत गुंजाइश बनी रहेगी।

पिछले दौर में एक खास तरह की नई पढ़ाई से पढ़ कर दो पीढ़ियां तो निकल ही चुकी हैं। इस पीढ़ी के ज्यादातर सदस्य बैंगलोर, हैदराबाद, पुणे और बाहर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि में जा बसे हैं। यदि सार्थक जीवन का अर्थ बस केवल अर्थ, यानी

रुपया-पैसा है, तो समाज के इस हिस्से के पास उसकी कोई कमी नहीं है। लेकिन जीवन का अर्थ उनके हाथ भी आसानी से नहीं लग पाता। उनके पैसे का एक भाग जीवन जीने की कला सीखने पर भी खर्च हो चला है। इस कला को सिखाने वाले भी कोई एक नहीं अनेक लोग हैं। इनके कपड़ों के रंग भी शुद्ध सफेद से लेकर गेरुआ, भगवा सब हैं। हजारों नहीं लाखों लोग कहीं योग या योगा करते हैं, ध्यान लगाते हैं, जाप या चैटिंग करते हैं। यह धर्म की नई दुनिया भी है, धर्म का नया बाजार भी और धर्म का नया मॉल भी। इसमें डोसा, पराठा कब से नहीं खाया—पूछने वाले गुरु भी हैं।

समाज के काम से जुड़े लोगों को 'चेंज', बदलाव, परिवर्तन जैसे शब्दों में विशेष आकर्षण मिलता है। धर्म के इस बाजार में भी चेंज शब्द आ गया है—'यस आई कैन चेंज' भी यहां चला है और अब 'न्यू' भी लग गया है इसमें। और, इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इन सब कामों से हजारों लोगों को कुछ-न-कुछ लाभ भी हुआ ही है। उनका भटकता हुआ मन कुछ शांत हुआ होगा। तो कलियुग में धर्मयुग का यह अवतरण अच्छा ही मान लेते हैं। लेकिन धर्मयुग से मिलता-जुलता एक और शब्द है—युगधर्म। इस युग का मुख्य धर्म है, इस समय का मुख्य विचार है—विकास। हर चीज का विकास। संगठन का, देश का, शहरों का विकास, गांवों का विकास, बाल विकास, महिला विकास। सब तरह के विचारों के झंडे इस विकास के झंडे में आकर समा जाते हैं। इस युगधर्म ने जीवन के अर्थ को भी प्रभावित किया है। हम सब चाहे जो भी काम करते हों, हम सब पर जाने-अनजाने इस विकास की छाया पड़ती ही है।

यह अनायास, अकारण नहीं है कि एक बाबा हरिद्वार में 'फूड पार्क' बनाते हैं और दूसरे बाबा अमेठी में इसी नाम से, मिलते-जुलते नाम से नहीं, इसी नाम से फूड पार्क बनाते हैं। एक बाबा का फूड पार्क बन जाता है पर अमेठी का फूड पार्क राजनैतिक पचड़ेबाजी में फंस जाता है। पर दोनों का मन एक ही है।

विकास की इस दौड़ में हम सबको दौड़ना ही पड़ता है। इस चूहा-दौड़ में दौड़ना ही है। पीछे रहें या आगे, यह विचित्र दौड़ हमें चूहा तो बनाती ही है। अर्थमय जीवन की चर्चा तो काफी गंभीर होनी चाहिए। हमारी यह चर्चा कोल्हू, बैल और चूहे जैसी घटिया हो गयी है तो आप सबसे क्षमा मांगते हुए मैं थोड़ा-सा लिफ्ट कर देता हूं। इसे थोड़ा ऊपर उठाता हूं। अभी कुछ ही दिन पहले 'लिफ्ट करा दे' के गायक को भारत की नागरिकता मिली है। उन्होंने बयान में कहा है कि यह उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अदनान सामी का जीवन सफल हो गया है, अर्थमय बन गया है उनका जीवन।

क्या सचमुच ऐसा है? अर्थमय जीवन की ये हमारी अपनी छोटी-छोटी परिभाषाएं हैं। भारत की इस मिली-मिलाई नागरिकता को तो कई लोग छोड़ यूरोप, अमेरिका, कनाडा की नागरिकता पाने को आतुर हैं। फिर आज दुनिया में ऐसे लोगों की संख्या भी सबसे ज्यादा हो गयी है, जिनकी कोई नागरिकता ही नहीं बच पायी है।

युद्ध, गृह युद्ध और बहुत दूर के दादा देशों की दखलंदाजी से कुछ लाख लोग शरणार्थी बने इधर से उधर भटक रहे हैं। उन पर आज क्या बीत रही होगी, हम सोच भी नहीं सकते। ऐसी दुनिया में सिर पर छत तो दूर की बात है, सिर पर एक आड़ और भरपेट नहीं, मुट्ठी भर अगला भोजन मिल जाये उतना ही अर्थ रह जाता है उनके जीवन का।

गांधीजी ने तो आजादी की लड़ाई के बीच में भी भूखे के भगवान की कल्पना कर दिखाई थी। उसके सामने भगवान भी रोटी के रूप में आने के अलावा कोई और रूप धारण कर ही नहीं सकता। हिम्मत भी नहीं कर सकता। अर्थमय जीवन के इस रोटी-रूप को लेकर दुनिया भर में अनेक विचारकों, चिन्तकों, क्रांतिकारियों ने कई तरह के शास्त्र रचे हैं, उन्हें अमल में उतारने के संगठन भी बनाये हैं। पर उन समाजों में भी जीवन का अर्थ एकदम साफ समझ में आ गया हो—इसका कोई पक्का रूप दिखता नहीं।

आज से कोई 25-30 बरस पहले हम लोग पानी, तालाब आदि पर कुछ काम कर रहे थे। उस विषय को समझने के लिए इधर-उधर जिज्ञासा में भटकते थे। हमारे कारण कुछ और साथी भी इसमें चीजें जुटाने में हमारे साथ हो लिये। राकेश दीवान तालाबों को समझने मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र की सीमा पर बैतूल इलाके में घूम रहे थे। वहां उन्होंने एक राजा का किस्सा सुना। तालाब तो इस किस्से में आएगा ही, पर इसमें पहले तो जीवन के अर्थ की खोज ही थी।

राजाओं का, प्रायः शासन करने वालों का स्वभाव जरा अलग ही रहता है। सांसारिक राजा को न जाने क्या हुआ कि उन्हें अपने जीवन का अर्थ जानने की इच्छा हो गयी। किसी सलाहकार ने उन्हें बता दिया कि बस ब्रह्म जान लो, सब अर्थ पता चल जायेगा। ''तो तुम बता दो ब्रह्म के बारे में, राजा ने उससे कहा था। यह तो बड़ा काम है राजा, हमें तो पता नहीं ब्रह्म का। पर इतना तो पक्का है कि ब्रह्म जान लो तो सब पता चल जाएगा।'' कौन बताएगा फिर ब्रह्म नाम की बला? सलाह मिली कि राज्य के सारे ज्ञानियों को, संतों को, साधुओं को जमा करो। सम्मेलन करो उस समय के किसी विज्ञान भवन में। उनमें से कोई-न-कोई तो ज्ञान दे ही देगा, ब्रह्म बता ही देगा!

ब्रह्म जानने, जीवन का अर्थ जानने, राजा का जीवन अर्थमय बनाने के लिए विराट आयोजन की तैयारियां शुरू हुईं। राज्य के ही नहीं राज्य से बाहर के भी ज्ञानियों का न्यौता भेजा गया। अब ये शासन करने वालों की भी तो कुछ सनक होती है। ब्रह्म ज्ञान बताने का नहीं, ब्रह्म ज्ञान सुनने का तरीका क्या होगा—यह तय किया राजा ने।

...शेष अगले अंक में

आर. एस. एस. की शक्ति का रहस्य

❑ रमेश ओझा

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की शक्ति का रहस्य क्या है? एस. एच. देशपांडे नामक कृषि अर्थशास्त्री का नाम बौद्धिक जगत में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। युवावस्था तक वह आर. एस. एस. के सदस्य थे। उन्होंने 1940 से 50 तक संघ में बिताए अपने सालों के अनुभव लिखे हैं। 'संघातील ते दिवस' नाम से वह मराठी में उपलब्ध है।

वे लिखते हैं 'संघ किसलिए?' तरुणों के मन में ऐसे सवाल उठना स्वाभाविक था। वे जब ऐसे सवाल खड़े करते तो उन्हें जवाब नहीं मिलता। पहले कहा जाता था कि अहिंसावादी डरपोक बुड्ढे के नेतृत्व में भारत को आजादी नहीं मिलेगी, इसलिए आजादी की आखिरी जंग तो संघ को ही लड़ना है। अतएव वे फालतू सवाल खड़े करने की बजाय सरसंघ चालक के आदेश का पालन करें। अभी पहला काम हिन्दुओं को संगठित करने का है। हिन्दू संगठित हुए तो आजादी चुटकी बजाते मिल जाएगी। जब डरपोक खूसट बुड्ढे के कारण आजादी मिल गयी तो स्वयंसेवक पूछने लगे कि आजादी तो मिल गयी अब संघ को क्या करना है? देशपांडे लिखते हैं कि संघ के पास इसका कोई समाधानकारक जवाब नहीं था। हिन्दू राष्ट्र कैसा होगा और उसके लिए अपनी तैयारी कैसे करें? ऐसे सभी सवालों के जवाब में एक ही बात कही जाती थी, हिन्दुओं को संगठित करो और संघ में ले आओ।

सन् 1940 का दशक आधुनिक भारत के इतिहास में सर्वाधिक निर्णायक है। केवल भारत ही नहीं द्वितीय विश्वयुद्ध की वजह से संपूर्ण विश्व के लिए सन् 1940 का दशक निर्णायक रहा। इसमें सारी दुनिया तानाशाही और मुक्त समाज (लोकतंत्र) तथा पूंजीवाद और साम्यवाद में विभाजित हो गयी थी। सभी को दोनों में से एक को चुनना था। भारत में हिन्दू व मुस्लिम जमातों में अभूतपूर्व धार्मिक विभाजन हुआ। साथ ही धर्मनिरपेक्ष या धार्मिक राष्ट्र इन दोनों में से एक को चुनना था। हिन्दुस्तान का संविधान बन रहा था, जिसमें परम्परा और आधुनिकता दोनों का संभाव्य समावेश था। इसी दौरान ग्रामीण और औद्योगिक अर्थव्यवस्था के बारे में निर्णय होना था तथा अंग्रेजी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में निर्णय लेने थे। साथ ही साथ वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने का फार्मूला भी तैयार करना था।

अर्थात भारत का भविष्य और उसका चेहरा सन् 1940 के दशक में निश्चित होना था। आश्चर्य है कि इस कल्पना करने वाले समय में भी संघ के पास कहने और करने जैसा कुछ भी नहीं था। स्वयंसेवकों को केवल एक ही आदेश दिया जाता था कि शंका उपस्थित मत करो और संगठन बढ़ाओ। वैसे दूसरे विश्वयुद्ध में उनकी सहानुभूति हिटलर के प्रति थी। उनका झुकाव ग्रामीण अर्थतंत्र के प्रति था पर गांधीजी की कल्पना का वे समर्थन नहीं करते थे। उन्हें रूढ़ी व परम्पराएं चाहिए थीं, लेकिन खुली जुबान से कहने की हिम्मत वे कभी नहीं कर पाए।

संघ के एक दूसरे स्वयंसेवक संजीव केलकर ने भी इस कालखंड को 'आर. एस. एस. के खोये हुए वर्ष' कहा है। इसी शीर्षक की किताब में वे कहते हैं, सन् 1940 में आरएसएस के संस्थापक डॉ. हेडगेवार के देहावसान के बाद संघ की लगाम गुरु गोलवलकर के हाथ में आयी। उस निर्णायक दशक में उन्होंने निर्णय लेना या बोलना तो दूर परिस्थितियों पर चर्चा का विचार को प्रोत्साहन तक नहीं दिया। सिर्फ एक ही सलाह दी जाती की 'पक्ष मत पूछिए, शंका मत कीजिए, सर संघ चालक का आदेश मानिए और हिन्दुओं को संगठित करिए'। संजीव केलकर आगे कहते हैं, 'गुरु गोलवलकर अगर चर्चा को प्रोत्साहन देते तो उस निर्णायक दशक में संघ का दर्शन विकसित हो सकता था। हिन्दू राष्ट्र एक संकल्पना है, जिसका कोई भी दर्शन संघ के पास नहीं है।' गुरु गोलवलकर ने स्वयं ऐसा एक प्रयास किया था। सन् 1939 में उनके नाम से एक किताब प्रकाशित हुई, जिसका नाम था 'वी एंड अवर नेशनहुड डिफाइंड'। इस किताब की पहली आवृत्ति में एम. एस. गोलवलकर का नाम बतौर लेखक है। उसमें कहीं भी जिक्र नहीं है कि दिए गए विचार किसी अन्य के हैं, उन्होंने तो केवल संकलन किया है। इस किताब की प्रस्तावना में उन्होंने खुद ही लेखक होने का दावा किया है। किताब प्रकाशन के दौरान दूसरा महायुद्ध शुरू हो चुका था। तानाशाही समर्थन करने वाली यह किताब संघ के गले की हड्डी बन गयी। अंततः गुरु गोलवलकर को जाहिर करना पड़ा कि 'वह किताब वी. डी. (दामोदर) सावरकर के भाई जी. डी. सावरकर की 'राष्ट्र मीमांसा' का अनुवाद मात्र है और वे इसके लेखक नहीं हैं।'

पिछले अनेक दशकों से संघ ने यह किताब प्रकाशित करना बंद कर दिया है और अब वह गुरु गोलवलकर को 'वी एंड अवर नेशनहुड डिफाइंड' के लेखक भी नहीं कहते। यही एक मात्र प्रयत्न था जो कि दूसरे के विचार उधार लेकर किया गया। इस तरह वह खुद ही अपने बुने जाल में फंस गये। उनके सामने मुश्किल यह थी कि सावरकर का कट्टर हिन्दुत्व गले उतरने जैसा नहीं था, वहीं दूसरी ओर गांधी का नया उदारमतवादी हिन्दुत्व स्वीकारने योग्य होकर भी उन्हें स्वीकार्य नहीं था। जाहिर है बीच का मार्ग ढूंढना चाहिए था। पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने उसके बाद ऐसा प्रयत्न ही नहीं किया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दू राष्ट्र के सवाल पर कुछ भी खुलासा नहीं करता। इसलिए धर्मनिरपेक्ष व लोकतंत्र में विश्वास करने वाले मानते हैं कि संघ का कोई छुपा एजेंडा है। उनके अनुसार संघ ने विशाल संगठन तो बना लिया पर उसकी कार्यशैली गोपनीय है।

जब उन्हें लोकसभा में दो तिहाई बहुमत मिलेगा तब असली एजेंडा बाहर आएगा।

आपको जब पोषण और रक्षण की कला सध जाती है, तब कुछ भी किए बिना या किसी भी उद्देश्य के विकास होते रहता है। संघ ने ऐसी ही पोषण और रक्षण की युक्ति आत्मसात् कर ली है। अन्य धर्मियों के मकान में झांकते रहने से एवं डर दिखाने से पोषण होते रहता है और क्षण के लिए सुरक्षित अंतर भी स्वमेव हो जाता है। गत नौ दशकों में ऐसा एक भी आंदोलन या मुद्दा दिखाइए, जिसे संघ ने उठाया हो, जिसमें बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया हो और उसे अंजाम दिया हो। अयोध्या, गोहत्या, कश्मीर, समान आचारसंहिता, स्वदेशी, भ्रष्टाचार, इसमें से एक भी मुद्दे पर संघ ने न तो अपनी पूरी ताकत लगायी और न ही उसके लिए खून पसीना एक किया। 90 वर्ष में संघ नौ शहीद भी तैयार नहीं कर पाया। जबकि गांधीजी के अहिंसक आंदोलन में सैकड़ों लोग शहीद हुए थे।

जरा सोचिए विश्व का सबसे बड़ा संगठन क्या नहीं कर सकता? सन् 1974-75 के बिहार आंदोलन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने जरूर हिस्सा लिया था। परंतु आपातकाल लगते ही तत्कालीन सर संघ चालक बालासाहेब देवरस ने इंदिरा गांधी के गुणगान करने वाला पत्र लिखा। बिहार आंदोलन में संघ की भूमिका केवल सहानुभूति की थी न कि समर्थन की। यह खुलासा करते हुए देवरस ने इंदिरा गांधी को प्रस्ताव दिया था कि हम प्रधानमंत्री के बीस सूत्रीय कार्यक्रम में सहयोग के लिए तैयार हैं। अनेक कांग्रेस नेताओं की संघ ने मदद भी की है। मुस्लिम धर्मांधता और ईसाई धर्मांतरण की थोड़ी भी आवाज हुई कि संघ को संरक्षण दे दिया गया। यदि कोई कांग्रेसी हिन्दू धर्म के नाम से चिल्लाए तो ठीक नहीं दिखेगा, इसलिए उन्हें भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की आवश्यकता है। तभी तो गांधी हत्या के बाद की संघ पर लगी पाबंदी उठा ली गयी थी। सार यह है कि संघ हृष्टपुष्ट शरीर में वास करने वाला एक औसत दिमाग है। ❑

अमीरी : पीर पराई न जाने रे

❑ **सोपान जोशी**

जिन लोगों के हाथ में देश की राजनीतिक और आर्थिक सत्ता है, वे धनाढ्य और साधन-सम्पन्न परिवारों से आते हैं। अगर अभिजात्य तबके में कमजोर लोगों के प्रति करुणा की कमी हो, अगर उस तबके के लोग अपने आप को गरीब लोगों से पृथक् मानते हों, तो उनके निर्णय और नीतियों में पक्षपात निश्चित है।

जैसे-जैसे धन-दौलत और शिक्षा का व्यापार बढ़ता है, सफल लोगों में करुणा और संवेदना कम होती जाती है। यह किसी धार्मिक गीत या गांधीजी की कही हुई बात भर नहीं है। अब इसके सबूत आधुनिक मनोविज्ञान से आ रहे हैं।

कोई विदेशी पादरी एक बार गांधीजी से अहमदाबाद में मिले। उन्होंने पूछा कौन-सी बात आपको अधिक-से-अधिक आश्वासन देती है। जवाब था : ''भारत की जनता को चाहे जितना ही परेशान किया जाए, फिर भी वह अपनी अहिंसावृत्ति नहीं छोड़ती। इससे मुझे सबसे अधिक आश्वासन मिलता है।''

फिर पादरी ने जानना चाहा कि कौन-सी बात गांधीजी को दिन-रात चिन्तित रखती है। ''शिक्षित लोगों के अंदर दया-भाव सूख गया है। इस बात से मैं हमेशा चिन्तित रहता हूं।''

थोड़ी अटपटी बात है यह। हर कहीं ऐसा कहा जाता है, माना जाता है कि शिक्षा से मनुष्य का उत्थान होता है, उसमें बेहतर मूल्य आते हैं। अगर किसी पढ़े-लिखे, डॉक्टर-इंजीनियर किस्म के व्यक्ति के साथ कोई अन्याय हो जाए तो अखबार उनकी आपबीती को बड़ी-बड़ी सुर्खियों में छपती है, या नहीं भी छपती।

ठीक इसी तरह ऐसा भी मान लिया जाता है कि धनवान और साधन-सम्पन्न लोग निर्धन लोगों की तुलना में ज्यादा न्यायसंगत होते हैं, वे गरीबों की तुलना में झूठ कम बोलते हैं, भ्रष्टाचार कम करते हैं, और चोरी-चकारी भी कम ही करते हैं, क्योंकि अमीर लोगों को उस तरह की किल्लत नहीं झेलनी पड़ती, जो निर्धन लोगों को आए दिन सहनी पड़ती है। जिनके पास अपनी कामनाएं पूरी करने के साधन होते हैं, उनमें आक्रोश और कुंठा भी कम ही होती होगी। और उन लोगों के प्रति करुणा भी होगी, जिनके पास इतने साधन नहीं हैं। तो क्या हम यह मान सकते हैं कि धोखा और चोरी-चपाटी की तराजू पर अमीरी और गरीबी का बाट रखकर देखने पर परिणाम गरीबी को ही पकड़ता है।

अगर हम ऐसा मान लें तो ये गलत होगा। कुछ अमेरिकी मनोवैज्ञानिकों का शोध इससे ठीक उलटी ओर इशारा करता है। उस तरफ जिसकी बात गांधीजी ने की थी। उनकी छानबीन कहती है कि जैसे-जैसे लोगों के पास धन बढ़ता जाता है और उनका उठना-बैठना धनाढ्य वर्ग के लोगों के बीच हो चलता है, वैसे-वैसे उनके मन में करुणा का भाव कम होता जाता है। अमेरिका के बर्कली नामक शहर के ये दोनों वैज्ञानिक जानना चाहते थे कि सामाजिक वर्ग, धन-दौलत, ओहदा, व्यवसाय की शानो-शौकत, और ऊंची शिक्षा से किसी की दूसरों के प्रति भावनाएं कैसे बदलती हैं। इसके लिए उन्होंने कई तरह के परीक्षण किए।

ऐसा एक परीक्षण, एक भीड़-भाड़ वाले चौराहे पर किया गया। दोनों मनोवैज्ञानिक जानना चाहते थे कि किस तरह की गाड़ी चलाने वाले लोगों का व्यवहार कैसा होता है। उन्होंने पाया कि आलीशान और महंगी गाड़ी चलाने वाले लोग हड़बड़ी में दूसरी गाड़ियों की जगह हड़प लेते हैं, खासकर उन लोगों की जो धीरज से अपनी बारी का इंतजार कर रहे हों।

इससे कोई अंतर नहीं पड़ता था कि चमचमाती गाड़ी कोई पुरुष चला रहा है या महिला। दिन का कौन-सा समय है, ट्रैफिक कम है या ज्यादा। महंगी गाड़ी चलाने वाले अमूमन दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन कर रहे थे। एक और परीक्षण में शोधकों ने यह भी पाया कि आलीशान गाड़ियों के चालक सड़क पैदल पार करने वालों के बगल से अपनी गाड़ी और तेज करके निकालते हैं। उनकी तुलना में साधारण गाड़ियां चलाने वाले लोग पैदल चलने वालों को जगह भी देते थे और उनके लिए रुकते भी थे।

हमारे मनोवैज्ञानिक ये भी जानना चाहते थे कि स्वार्थ से साधन बढ़ते हैं, या साधन बढ़ने से स्वार्थ आता है। इसके लिए उन्होंने कुछ स्वयंसेवियों के साथ एक परीक्षण किया, जिसमें दूसरे वर्गों के लोगों के प्रति उनकी भावनाओं को परखना था। इसके लिए उन्हें अपने से ज्यादा धनवान और अपने से ज्यादा गरीब लोगों का ध्यान करने को कहा गया, ताकि वर्गों का अंतर उनकी चेतना में बैठ जाए।

इसके बाद उनमें से हर एक को एक मिठाइयों का मर्तबान दिखाया गया, और उन्हें कहा गया कि वे जितना चाहे मिष्ठान्न ले सकते हैं। उन्हें यह भी बताया गया कि जो मिठाई व मर्तबान में छोड़ देंगे, वह पास के बच्चों में बांट दी जाएगी। जो स्वयंसेवी अपने आपको दूसरों से कहीं अधिक साधन-सम्पन्न और अमीर मानते थे, उन्होंने दूसरों की तुलना में कहीं ज्यादा मिठाई मर्तबान से निकाल ली और बच्चों के लिए बहुत कम मिठाई छोड़ी। जो अपने आपको दूसरों से अमीर मानते थे, उनमें दूसरों के लिए सद्भावना कम दिखी।

इसी तरह के एक और प्रयोग में कुछ मनोवैज्ञानिकों ने यह जानना चाहा कि किस वर्ग के लोग आपत्ति में फंसे लोगों के प्रति ज्यादा करुणा, सहानुभूति रखते हैं। उन्होंने पाया कि साधारण तबके के लोगों की बातचीत में दूसरों के प्रति संवेदना अमीर वर्ग के लोगों से ज्यादा थी। जो वाक्य सहज ही स्वीकार्य लग रहे थे, वे कुछ इस तरह थे : ''मेरा ध्यान अक्सर ऐसे लोगों पर जाता है, जिन्हें मदद की जरूरत है,'' या ''यह आवश्यक है कि कमजोर लोगों की मदद की जाए।'' ऐसी भावनाएं वर्ग पर निर्भर होती हैं, धर्म, लिंग या जाति नस्ल पर नहीं।

ऐसे ही एक और परीक्षण में इन वैज्ञानिकों ने कुछ लोगों की हृदय गति नापी, जब वे कुछ विशेष चलचित्र देख रहे थे। एक हिस्से में कोई व्यक्ति एक आंगन बना रहा था, और दूसरे चलचित्र में कैंसर से पीड़ित बच्चे दिख रहे थे। इन चित्रों को दिखलाने के बाद उन लोगों से पूछा गया कि दोनों चलचित्रों को देखते हुए उन्हें कितनी करुणा की अनुभूति हुई। इनमें से हर व्यक्ति की माली और सामाजिक हालत पहले से ही पता कर ली गयी थी।

कम धन कमाने वाले और कम शिक्षा पाए हुए लोगों ने कैंसर से पीड़ित बच्चों के प्रति ज्यादा करुणा भाव बताया। फिर वैज्ञानिकों ने उनकी कही हुई बातों की तुलना उनकी दिल की धड़कन से की, क्योंकि चलचित्र देखते समय उनकी हृदय गति नापी गयी थी। शोधकों ने पाया कि कैंसर से पीड़ित बच्चों को देखते समय साधारण तबके के लोगों के दिल की धड़कन धीमी पड़ गयी थी। वैज्ञानिक ये जानते हैं कि जब कोई व्यक्ति दूसरों की भावनाओं और प्रेरणाओं पर ध्यान देता, तो उसकी हृदय गति औसत से धीमी हो जाती है।

जो दूसरों की भावनाओं पर ध्यान देता है, उसके लिए उनकी मदद करना सहज कर्म हो जाता है। इस तरह के विषयों पर पहले हुआ शोध भी यही बतलाता है कि अमीरी लोगों के दिल को कठोर बना देती है। वैज्ञानिक पहले ये दिखला चुके हैं कि ऊंचे तबके के लोग दूसरों की भावनाएं पहचानने में कमजोर होते हैं। दूसरों से मिलते-जुलते समय पर उनका ध्यान भी कम देते हैं। जब उन्हें किसी बात को गंभीरता से लेना चाहिए तब वे प्रायः अपना मोबाइल फोन टटोलते रहते हैं या किसी और मामूली चीज से खेलते से दिखते हैं।

कहा तो यही जाता है कि साधनों की तंगी मनुष्य को स्वार्थी बनाती है। ऐसा क्यों होता है कि धन और सामाजिक रुतबा दूसरों के प्रति करुणा घटा देता है? परीक्षण करने वाले वैज्ञानिकों को लगता है कि अधिक धन और साधन होने पर हम लोग अपने-आप को आजाद महसूस करते हैं, दूसरे लोगों पर निर्भरता से मुक्त पाते हैं। जब दूसरों पर हमारी निर्भरता कम हो जाती है तो हमारे मन में उनकी भावनाओं का लिहाज भी कम हो जाता है। इससे हम आत्म-केन्द्रित से होते जाते हैं।

इसका सीधा संबंध लोभ से है। ऊंचे वर्ग के लोग लोभ को अच्छा मानने लगते हैं। हमारे मनोवैज्ञानिकों ने पाया कि धनी लोग लालच को न्यायसंगत ठहराते हैं, उसे एक ऊंचा मूल्य बताते हैं, और उसका आधार नैतिक मानते हैं। इस तरह के संकेत व्यक्तियों के अनैतिक व्यवहार का पूर्वानुमान लगाने में काम आते हैं। एक और परीक्षण में शोधकों ने 'मोनॉपोली' नामक खेल का सहारा लिया। हमारे यहां ये बोर्ड पर खेले जाने वाला खेल 'व्यापार' या 'बिजनेस' के नाम से बिकता रहा है।

कुछ खिलाड़ियों को दूसरों की तुलना में खिलौने वाली मुद्रा दुगुनी मात्रा में दी गयी। और पांसे भी एक ही जगह दो मिले। इसका मतलब था कि खेल शुरू होने के पहले ही उनके पास दूसरे खिलाड़ियों की तुलना में दुगुनी बढ़त थी। जैसे-जैसे ये लोग जीतते गए, वैसे-वैसे उनके व्यवहार और उनके हाव-भाव बदलते गये। जीतने वालों में से कुछ ने बाद में इसका विश्लेषण दिया कि जीत में उनकी कुशलता का कितना बड़ा हाथ था। उन्होंने ये नहीं सोचा कि असल में उनकी

स्थिति पहले से ही बढ़त की थी। जैसे-जैसे ये विशेषाधिकार वाले खिलाड़ी जीतते गए, उनके हाव-भाव भड़काऊ और आक्रामक होते गए। उनका ध्यान दूसरे खिलाड़ी के दुर्भाग्य की ओर कतई नहीं गया। यही नहीं, जीतते वालों ने अपनी श्रेष्ठता के लिए तरह-तरह की सफाई भी दी। उनका व्यवहार लगातार लापरवाही और स्वप्रशंसा का होता गया।

इस शोध को करने वाले मनोवैज्ञानिक ध्यान दिलाते हैं कि अमेरिका में गरीबों और अमीरों में अंतर लगातार बढ़ता जा रहा है। ऐसे में उनके प्रयोग के निष्कर्ष उनके समाज के लिए और भी चिन्ताजनक हैं। जिन लोगों के हाथ में देश की राजनीतिक और आर्थिक सत्ता है, वे धनाढ्य और साधन-सम्पन्न परिवारों से आते हैं। अगर अभिजात्य तबके में कमजोर लोगों के प्रति करुणा की कमी हो, अगर उस तबके के लोग अपने आप को गरीब लोगों से पृथक् मानते हों, तो उनके निर्णय और नीतियों में पक्षपात निश्चित है।

यही नहीं, अनैतिक और भ्रष्ट काम करना उनके लिए लगातार आसान होता जा रहा है। शोधकों का कहना है कि लोभ केवल अमीर लोगों में ही होता हो, ऐसा नहीं है। लोभ हर मनुष्य में होता है। लेकिन लोभ के शिकंजे में सबसे ज्यादा कसे हुए लोग वही होते हैं, जिनके पास बाकी सबसे ज्यादा धन-दौलत होती है।

इस तरह का शोध हमारे देश में कम ही हुआ है। होता भी है तो हमारे वैज्ञानिक अपनी शोध का सामाजिक पहलू साधारण लोगों के सामने नहीं पहुंचा पाते हैं। लेकिन ये तो तय है कि गरीबों और अमीरों के बीच की खाई हमारे देश में तेजी से बढ़ रही है। एक अंतर्राष्ट्रीय बैंक का अंदाजा ये बताता है कि हमारी कुल आबादी का दसवां हिस्सा इतना अमीर है की उसके पास देश की कुल धन-सम्पत्ति का तीन-चौथाई हिस्सा है। यानी, सौ में से 10 लोगों के पास सौ में से 74 के अंश बराबर धन है। बाकी 90 लोग केवल 26 फीसदी से काम चलाते हैं।

हमारी शिक्षा पद्धति पूरी तरह धन कमाने और नौकरी पाने पर केन्द्रित है। बच्चों से बहुत कम उमर से सवाल पूछा जाता है— बड़े होकर क्या बनोगो? इसके माने यही होता है कि शिक्षा का एकमात्र ध्येय है धनवान बनना। धनवान बनने के बाद लोगों में वैसे ही गरीबों के प्रति संवेदना घट जाती है। तो धनवान केवल दूसरे धनवानों की मदद करते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे देश में स्कूल और कॉलेज की अच्छी शिक्षा पाने के लिए धनवान होना जरूरी है।

इस विशेषाधिकार की एक झलक मिलती है हमारे देश में अंग्रेजी के रुतबे से। एक अंदाजा बताता है कि अंग्रेजी जानने वाले भारतीय भाषाओं भर को जानने वालों से एक-तिहाई ज्यादा कमाते हैं। मतलब और सभी योग्यताएं एक-सी होने पर भी अंग्रेजी जानने वाले की आमदनी ज्यादा होती है। अंग्रेजी में शिक्षा भी महंगी है। जबकि हमारी कुल आबादी का केवल पांचवां हिस्सा अंग्रेजी जानता है। उसमें भी, कुल आबादी में केवल 4 प्रतिशत लोग ठीक से अंग्रेजी जानते हैं। अंग्रेजी जानने वाले एक विशेष वर्ग में आते हैं। उनके पास अवसर भी ज्यादा होते हैं और सहूलियतें भी। फिर चाहे उनके पास हुनर और मेहनत हो या न हो। और अंग्रेजी जानने वालों में अंग्रेजी न जानने वाले को हीन भी माना जाता है।

गरीब-अमीर की असमानता तब तो और कचोटती है जब शरीर बीमार हो जाए। अच्छी चिकित्सा और देखरेख तो दूर, बुनियादी स्वास्थ्य सेवाएं भी साधारण लोगों को आसानी से मिलती नहीं हैं। सरकारी अस्पतालों की हालत लगातार बिगड़ती जा रही है और सरकार का ध्यान नये अस्पताल खोलने पर बिलकुल नहीं जाता। यह तो सभी जानते हैं कि खुद राजनीतिक नेता और सरकारी अधिकारी उन सरकारी अस्पतालों में इलाज के लिए नहीं जाते हैं, जिन्हें चलाने का काम उन्हीं के हाथों होता है। निजी अस्पताल मरीज की नब्ज देखने के पहले उसकी जेब में झांकते हैं। तब भी जब गरीब मरीजों का इलाज उनकी कानूनन जिम्मेदारी है। ये सब संकेत समाज के धनाढ्य वर्ग में करुणा की कमी दिखलाते हैं।

इसका एक कारण तो यह है कि सत्ता में आने के बाद राज करने वालों का साधारण लोगों से नाता टूट जाता है। गांव की गलियों की धूल में से ऊपर उठकर सत्ता में पहुंचे लोग बड़ी जल्दी सब कुछ भूल जाते हैं। अफसर या मंत्री किसी गरीब या साधारण घर से ही क्यों न निकला हो, स्वास्थ्य और शिक्षा की नीति बनाते समय उसके मन में साधारण लोगों के प्रति करुणा कम हो चुकी होती है। यह दौलत का स्वभाव है। कई धर्मों ने अपने अनुयायियों को दौलत से आने वाली कठोरता के खिलाफ आगाह किया है। गांधीजी ने यही चेतावनी शिक्षा के संबंध में दी थीं। आज हर राजनीतिक पार्टी विकास ही का नारा लगाती है। यह भी कहा जाता है कि हर तरह की समस्या का एक ही उपाय है, और वह है विकास, विकास और विकास।

अमेरिका दुनिया का सबसे विकसित, सबसे अमीर देश माना जाता है। अगर वहां का शोध हमें यह सब बता रहा है कि अमीर होने पर लोगों में करुणा कम होती जाती है, तो हमारे जैसे देश के विकास के लिए इसमें क्या सबक है? क्या ये विकास एक छोटे-से तबके भर का विकास नहीं है? चाहे किसी भी पार्टी की सरकार हम पर राज करे, सत्ता में आते ही सांसदों और अधिकारियों में अमीरी की निष्ठुरता आना सहज ही है।

इसमें आश्चर्य तो तब होना चाहिए जब किसी राजनेता या अधिकारी में करुणा बच जाए। सत्ता, धन-दौलत और रौब-रुतबा पाने के बाद 'वैष्णव जन' बने रहना आसान नहीं होता, क्योंकि फिर 'पीर पराई' जानना मुश्किल हो जाता है। यह बात धार्मिक साहित्य में सदियों से है। सामाजिक काम करने वाले गांधीजी जैसे लोगों ने हमें इसकी फिर याद दिलायी थी। अब आधुनिक मनोविज्ञान भी इसी ओर इशारा कर रहा है। ❑

गरीबी रेखा नहीं, अमीरी रेखा बननी चाहिए

❑ रोशनलाल अग्रवाल/आशुतोष दुबे

आज देश गंभीर आर्थिक असमानता का शिकार है। देश की कुल निजी सम्पत्ति का अधिकांश भाग केवल मुट्ठीभर लोगों के पास सिमट कर रह गया है, जबकि शेष विशाल जनसमुदाय नितांत अभाव और दुर्दशा का जीवन जीने को मजबूर है। देश के सभी उत्पादन के साधन जैसे व्यापार, उद्योग, कृषि आदि सब पर इन्हीं मुट्ठीभर लोगों का अधिकार है और देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से मिलने वाले अतिरिक्त लाभ का अधिकांश भाग भी इन्हीं अतिसम्पन्न लोगों के पास जा रहा है। इसके कारण ये लोग पूर्ण विलासिता का जीवन तो जी ही रहे हैं, इनकी आर्थिक सम्पन्नता भी निरंतर बढ़ती ही जा रही है। इस कारण **अनेक लोग कमरतोड़ मेहनत करने के बाद भी अपनी न्यूनतम जरूरतों को ठीक ढंग से पूरा करने योग्य धन भी प्राप्त नहीं कर पाते। समाज का बहुत बड़ा कमजोर वर्ग तो दोनों समय की रोटी को भी तरस रहा है। दो व्यक्तियों की आय में जमीन और आसमान का अंतर है। यह अंतर अब इतना बड़ा हो चुका है कि एक व्यक्ति की एक दिन की आय दूसरे व्यक्ति की सात जन्म की आय से भी अधिक हो गयी है। यदि यही न्याय है तो फिर अन्याय क्या है?**

यह अन्याय सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के ताने-बाने को बुरी तरह से ध्वस्त कर रहा है। जैसे-जैसे यह अन्यायपूर्ण आर्थिक विषमता बढ़ रही है, वैसे ही वैसे समाज में व्यवस्था के प्रति अविश्वास, असंतोष, टकराव और विद्रोह की समस्याएं निरंतर जटिल और विनाशकारी होती जा रही हैं। नक्सलवाद, आतंकवाद, अलगाववाद, जघन्य व संगठित अपराध, व्यवस्था के द्वारा किये जा रहे अन्याय की अभिव्यक्ति या प्रतिक्रिया मात्र हैं। जो लोग इन्हें कानून व्यवस्था की समस्या मानते हैं, वे या तो मूर्ख हैं या धूर्त। रोजगार के अवसर निरंतर घट रहे हैं और बेरोजगारों की फौज निरंतर बढ़ती जा रही है। जैसे-जैसे बेरोजगारी बढ़ रही है, वैसे ही वैसे समाज में रोष बढ़ता जा रहा है। देश की सारी सम्पदा, सम्पत्ति और संवैधानिक पदों पर नितांत स्वार्थी, धूर्त, पाखंडी, अपराधी व बेईमान लोगों का कब्जा होता जा रहा है। ये सभी मिलकर पूरे समाज को लूट रहे हैं और इसे गुमराह भी कर रहे हैं।

सहज ही प्रश्न उठता है कि इन समस्याओं का मूल कारण और इनका समाधान क्या है? सामाजिक व्यवस्था एक व्यापक समझौता होती है, जिसका उद्देश्य सब लोगों के हितों में न्यायपूर्ण सामंजस्य की स्थापना करके उन्हें एक-दूसरे के पूरक बनाना है। लोगों के हितों में होने वाले अधिकांश टकराव भी आर्थिक ही होते हैं। क्योंकि अर्थ का संबंध व्यक्ति की रोटी, कपड़ा व मकान जैसी आधारभूत आवश्यकताओं से है। न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था के द्वारा ही सब लोगों की सारी आवश्यकताएं बहुत आसानी से पूरी की जा सकती हैं। किन्तु यदि व्यवस्था न्याय की कसौटी पर खरी न हो, तो उसका परिणाम भी अनेक प्रकार के टकरावों के रूप में सामने आता है। समाज में विद्यमान गंभीर आर्थिक व अन्य प्रकार की समस्याओं का मूल कारण भी वर्तमान अन्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था ही है।

अतः समाज में सुख, समृद्धि व सुरक्षा के लक्ष्य को पाने के लिए सबसे पहले अर्थव्यवस्था को न्यायपूर्ण बनाया जाना चाहिए। हम जब किसी भी व्यवस्था को स्वीकार करते हैं तो उसका एकमात्र मुख्य कारण उससे मिलने वाला अतिरिक्त लाभ होता है। क्योंकि तब हम एक-दूसरे के कार्य में बाधक बनने की बजाय, एक-दूसरे के सहायक या पूरक बन जाते हैं और हर व्यक्ति को अपनी योग्यता, क्षमता और रुचि के अनुसार उपयुक्त भूमिका प्राप्त हो जाती है, जिससे कठिन-से-कठिन काम भी अत्यन्त आसान हो जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था की सफलता केवल इस बात पर निर्भर करती है कि उस व्यवस्था से मिलने वाले अतिरिक्त लाभ का वितरण भी न्यायपूर्ण ढंग से हो। वर्तमान अर्थव्यवस्था का दोष यह है कि वह इससे मिलने वाले अतिरिक्त लाभ का न्यायपूर्ण वितरण नहीं करती, जिसके कारण समाज में असंतोष, अविश्वास, अभाव, बेरोजगारी, गरीबी, शोषण, अपराध और षड्यंत्रों जैसी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। समाज में विद्यमान गंभीर आर्थिक विषमता का मूल कारण व्यवस्था से उत्पन्न होने वाले लाभ और हानियों का अन्यायपूर्ण वितरण है। कुछ मुट्ठीभर लोगों को तो उनके हक से बहुत ज्यादा हिस्सा मिल रहा है, जबकि शेष लोग अपने न्यायपूर्ण हक से वंचित हो रहे हैं। इसे न्यायपूर्ण बनाने के लिए हमें सारी स्थितियों पर न्यायपूर्ण ढंग से विचार करना होगा।

न्याय की दृष्टि से देश की सारी प्राकृतिक सम्पदा और उससे प्राप्त सम्पत्तियों पर देश के सभी नागरिकों का समान अधिकार होता है। उन्हें यह अधिकार वहां जन्म लेने के कारण मिलता है, न कि अपनी किसी विशेष योग्यता, क्षमता या पुरुषार्थ के कारण। इसलिए इस अधिकार को न तो घटाया जा सकता है और न ही बढ़ाया जा सकता है। अतः न्याय के आधार पर एक व्यक्ति का मूलभूत सम्पत्ति अधिकार केवल औसत सीमा तक की सम्पत्ति पर ही हो सकता है। क्योंकि इससे अधिक अधिकार प्रदान करने का अर्थ किसी अन्य व्यक्ति के साथ अन्याय करना होगा।

दूसरी बात यह है कि व्यक्ति की योग्यता, क्षमता या अन्य किसी विशेषता के

आधार पर मूलभूत अधिकार को कम या अधिक करने से उसका स्वरूप 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' जैसा हो जायेगा और जंगल के कानून की तरह शक्तिशाली लोग कमजोर लोगों के सारे न्यायोचित अधिकारों का हनन कर देंगे। उसे न्यायपूर्ण कहना न्याय का मखौल उड़ाना ही होगा। न्याय की दृष्टि से कोई व्यक्ति चाहे कितना भी अधिक योग्य पुरुषार्थी या सर्वगुण सम्पन्न क्यों न हो, फिर भी उसके अधिकार की एक अधिकतम सीमा का निर्धारण तो करना ही होगा। किन्तु वर्तमान व्यवस्था किसी भी व्यक्ति के अधिकतम सम्पत्ति अधिकारों की किसी भी सीमा को स्वीकार नहीं करती। इसके कारण शक्तिशाली व्यक्ति निरंतर अधिक शक्तिशाली होता चला जाता है तथा कमजोर व्यक्ति निरंतर कमजोर होता चला जाता है; इसी का परिणाम समाज में गंभीर आर्थिक विषमता के रूप में सामने आ रहा है।

एक व्यक्ति के अधिकतम सम्पत्ति अधिकार की सीमा का निर्धारण करना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि उत्पादन और विनिमय के कामों में साधनों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी भी प्रकार का उत्पादन केवल श्रम के बल पर नहीं किया जा सकता। साधनों के बल पर ही कठिन से कठिन कामों को भी कम से कम श्रम में ही आसानी से पूरा किया जा सकता है, जबकि साधनों के अभाव में बहुत आसान कामों को कर पाना भी अत्यन्त कठिन या असम्भव हो जाता है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था को देखकर इस सत्य को आसानी से समझा जा सकता है कि भौतिक विज्ञान की उन्नति के कारण आज पूरी अर्थव्यवस्था ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था साधनों पर ही टिक गयी है। अत्यन्त शक्तिशाली यंत्रों और उपकरणों के आविष्कार ने उत्पादन और विनिमय की सारी पुरानी स्थितियों को पूरी तरह बदलकर रख दिया है। अब साधनों की भूमिका ही मुख्य हो गयी है और मानवीय श्रम की भूमिका नितांत गौण। इसके कारण व्यक्ति की आय का संबंध उसके श्रम से न होकर उसके साधनों से स्थापित हो गया है। श्रम की भूमिका के घट जाने का दुष्परिणाम ही श्रम की आय पर निर्भर रहने वाले लोगों की गरीबी, बेरोजगारी, अभाव व शोषण के रूप में सामने आ रहा है। यह पूरे तौर पर स्पष्ट दिखलाई देता है कि अब लोगों की अमीरी उनकी बुद्धि, श्रम या पुरुषार्थ के बल पर नहीं, बल्कि उनके साधनों के कारण ही बढ़ रही है। सारी सम्पत्ति व साधनों का निरंतर केन्द्रीयकरण हो रहा है और वे केवल कुछ लोगों के पास सिमटते जा रहे हैं। यह एक अत्यन्त भयावह और खतरनाक स्थिति है, जिसका अंतिम परिणाम बहुत ही विनाशकारी हो सकता है।

अतः समाज को सुखी बनाने के लिए अब समाज में एक 'अमीरी रेखा' बननी चाहिए, न कि 'गरीबी रेखा'। न्याय के आधार पर समाज में योग्यतम व्यक्ति के अधिकतम अधिकार तथा अयोग्यतम व्यक्ति के न्यूनतम अधिकार परिभाषित होने चाहिए। इसके बिना कमजोर व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती। वैसे भी व्यवस्था को खतरा, योग्य या शक्तिशाली व्यक्ति से ही होता है। अतः गरीबी रेखा बनाना या तो अज्ञानता है या समाज को धोखा देने का प्रयास।

अब 'अमीरी रेखा' बनाना इसलिए भी आवश्यक हो गया है क्योंकि भौतिक विज्ञान की उन्नति के कारण और नित नये-नये आविष्कारों और खोजों के कारण नये-नये शक्तिशाली यंत्र और उपकरणों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। इससे उत्पादन और विनिमय के सभी क्षेत्रों में वे मानव का स्थान लेते जा रहे हैं, जिससे मानवीय श्रम की भूमिका ही घटती जा रही है। इसके कारण श्रम पर आधारित रोजगार भी लगातार घटते जा रहे हैं। इसकी अंतिम परिणति श्रम पर आधारित रोजगारों का पूरी तौर पर समाप्त हो जाना है। केवल मशीनों के बल पर भारी मात्रा में इतना उत्पादन तो हो जायेगा, जो सब लोगों की उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त होगा। किन्तु उन लोगों का क्या होगा, जो मानवीय श्रम की भूमिका समाप्त हो जाने से पूरी तरह बेरोजगार हो जायेंगे और उनके पास जिन्दा रहने के लिए आय का कोई साधन नहीं होगा। यह एक अत्यन्त भयावह स्थिति होगी, जिस पर समय रहते विचार करना न केवल सामाजिक बल्कि मानवीय उत्तरदायित्व भी है।

यह भी विचारणीय प्रश्न है कि ऐसे आजीविकाहीन लोगों का समाज में प्रतिशत कितना होगा? इसका उत्तर यह है कि आज शक्तिशाली यंत्रों और उपकरणों के द्वारा एक ही व्यक्ति के श्रम से कई गुना उत्पादन हो रहा है। पहले जिस काम को करने के लिए भारी संख्या में मनुष्यों की जरूरत होती थी, अब उसे 10 या 20 प्रतिशत लोगों के द्वारा सरलता से पूरा किया जा रहा है। आने वाले समय में जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी अधिक उन्नत होगी, इससे भी कम लोगों के द्वारा ही अधिक मात्रा में उत्पादन कर पाना सम्भव हो जायेगा। अतः हम यह कह सकते हैं कि मात्र 5 या 10 प्रतिशत लोग ही इतनी भारी मात्रा में उत्पादन कर सकेंगे, जो सभी 100 प्रतिशत लोगों के उपभोग की जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त हो। किन्तु यह अलग बात है कि इस कारण कम-से-कम 90 प्रतिशत लोगों के पास आय का कोई स्रोत न रहने के कारण उनकी कोई क्रय शक्ति नहीं रह जायेगी। यह एक भीषण मानवीय त्रासदी होगी। किन्तु इसका परिणाम सम्पन्न लोगों के लिए भी विनाशकारी ही होगा। क्योंकि तब उनके विशाल उत्पादन का कोई क्रेता नहीं होगा। एक तरफ उत्पादनों के गोदाम भरे होंगे तो दूसरी ओर 90 प्रतिशत लोगों के पेट खाली होंगे। उत्पादक अपना उत्पादन बेचने के लिए अनुचित प्रतिस्पर्धा का सहारा लेने के लिए मजबूर हो जायेंगे और अंततः वे भी आपस में कट मरेंगे। अर्थव्यवस्था के लिए भी यह भयानक स्थिति होगी।

इन सारी भयानक स्थितियों से बचने का सर्वश्रेष्ठ और न्यायपूर्ण उपाय अमीरी रेखा (समृद्धि रेखा या समता रेखा) बनाना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि न्याय के आधार पर एक आदमी को केवल औसत

सीमा तक सम्पत्ति रखने की स्वतंत्रता या अधिकार होना चाहिए। जिसे मूलभूत सम्पत्ति का अधिकार माना जाए और इससे अधिक सम्पत्ति के लिए उसे उसका मालिक न मानकर केवल प्रबंधक माना जाए, जो उस अधिक सम्पत्ति के लिए समाज का कर्जदार हो। ऐसा इसलिए माना जाना चाहिए क्योंकि मूल रूप से सारे प्राकृतिक संसाधनों और सम्पत्ति पर समाज का समान स्वामित्व है। अतः भले ही कोई व्यक्ति अपनी अधिक योग्यता, प्रतिभा या पुरुषार्थ के बल पर अधिक मात्रा में सम्पत्ति अर्जित करने की क्षमता रखता हो, किन्तु उसके द्वारा अधिक मात्रा में सम्पत्ति संचय करने से शेष लोगों के लिए सम्पत्ति की मात्रा घट जाती है, जिससे उनके मूलभूत अधिकार का हनन होता है। अतः अधिक क्षमतावान व्यक्ति अधिक आय प्राप्त करने के लिए और उसका उपयोग करने के लिए तो स्वतंत्र होना चाहिए किन्तु मूलभूत अधिकार की तरह संचित करने के लिए नहीं। उसने अपनी प्रतिभा या योग्यता के बल पर केवल प्राकृतिक संसाधनों का रूपांतरण किया है, न कि स्वतंत्र निर्माण। अर्थात उसने इसके लिए जिन प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया है, उन पर उसका नहीं बल्कि किसी अन्य व्यक्ति का अधिकार है। अतः उन पदार्थों के रूपांतरण में लगने वाले श्रम का भाग ही उसे मिलना चाहिए और प्राकृतिक साधनों के मूल्य का भाग उन प्राकृतिक संसाधनों के स्वामियों को मिलना चाहिए, जो उनके मूल मालिक हैं।

इस बात को समझने के लिए बटाईदार का उदाहरण देना उचित होगा। बटाईदार उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसके पास अपनी कोई भूमि नहीं होती। अतः वह भूमि के स्वामी से भूमि लेता है और उससे प्राप्त होने वाले उत्पादन का एक भाग भूमि के स्वामी को प्रदान करता है। हालांकि भूमि का स्वामी कोई श्रम नहीं करता फिर भी भूमि का मालिक होने के कारण वह उत्पादन का एक भाग प्राप्त करता है और शेष भाग मेहनत के बदले में बटाईदार का मान लिया जाता है। अतः अपने अधिकार की सीमा से अधिक धन के लिए भी व्यक्ति को उस धन का बटाईदार ही माना जाना चाहिए और उसके स्वामित्व के अधिकार का हिस्सा समाज को मिलना चाहिए।

अतः एक नागरिक को केवल औसत सीमा तक सम्पत्ति रखने का मूलभूत अधिकार होना चाहिए और उससे अधिक सम्पत्ति पर ब्याज की दर से टैक्स लगना चाहिए। उसे इस अधिक सम्पत्ति का किराया या रायल्टी भी कह सकते हैं। इस तरह ब्याज की दर से टैक्स या रायल्टी लगाना इसलिए न्यायोचित है क्योंकि ब्याज सम्पत्ति से मिलने वाला वह अतिरिक्त लाभ होता है, जिसका व्यक्ति के श्रम से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अन्य सभी प्रकार के करों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए और सम्पत्ति कर से प्राप्त राशि में से सरकार के बजट का खर्च काटकर शेष राशि को देश के सारे नागरिकों में समान रूप से लाभांश के रूप में बांट दिया जाना चाहिए।

ऐसा करने से न केवल अर्थव्यवस्था को वर्तमान में अनेकों प्रकार की विसंगतियों, विकृतियों, कठिनाइयों, बाधाओं, अपव्ययों, अस्पष्टताओं, अंतर्विरोधों और झूठ बोलने की मजबूरियों से छुटकारा मिल जाएगा बल्कि विकास के कारण उत्पन्न होने वाले अतिरिक्त लाभ में भी सब लोगों को उनका न्यायोचित भाग प्राप्त हो जायेगा। इससे हर व्यक्ति को सम्मान के साथ अभाव-मुक्त जीवन जीने के लिए आय का स्रोत भी मिल जायेगा, जिससे रोजगारों के समाप्त हो जाने के कारण पैदा होने वाली जटिल मानवीय व सामाजिक समस्या का भी सरलतम समाधान होगा। इससे आम आदमी की क्रय शक्ति में भारी वृद्धि हो जायेगी। इससे हर उत्पादक के उत्पादन की भारी मांग पैदा होगी, जिससे कृषि, दुग्ध, उद्योग व व्यापार में लगे लोगों के काम में भारी वृद्धि होगी। उनका हर सामान मुंह मांगे दामों पर बिकेगा, जिससे वे भारी आर्थिक लाभ भी अर्जित कर सकेंगे। अनेक प्रकार के करों के समाप्त होने से उनको अपना उत्पादन करने के लिए अधिक समय मिल सकेगा। अनेक करों के कारण उन्हें खाता-बही व बिल-वाउचर आदि रखने की परेशानियों से मुक्ति मिलेगी। शासकों और प्रशासकों के द्वारा किए जाने वाले अनुचित हस्तक्षेप, अपमान व भयादोहन भी समाप्त हो जायेंगे। वे पूरी सच्चाई के साथ अपने कार्यों का संचालन कर सकेंगे।

सभी नागरिकों को अपनी योग्यता और प्रतिभा को बढ़ाने व समाज में अपनी योग्यता के अनुसार स्थान प्राप्त करने के लिए समान अनुकूल अवसर प्राप्त होंगे। हर व्यक्ति स्वावलम्बी होगा और योग्यता एवं रुचि के अनुसार अपनी भूमिका का चयन कर सकेगा। लोगों के बीच विद्यमान जाति, सम्प्रदाय, लिंग, भाषा, पेशा व अन्य प्रकार के वर्गीय भेदभाव समाप्त हो जायेंगे। हर व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह सुरक्षित रहेगा। सबको अपना पेट भरने के लिए कोई अनचाहा या अनुचित काम नहीं करना होगा। समाज में शोषण करने, धोखा देने या किसी की मजबूरी का अनुचित लाभ उठाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगेगा। देश में कोई भी व्यक्ति लाचार, गरीब या अन्याय का शिकार नहीं होगा। भीख मांगने, चोरी करने, नशीले पदार्थ या वेश्यावृत्ति जैसे घृणित कार्य नहीं करने होंगे। सरकार को भी राजस्व की कमी को पूरा करने के लिए शराब या गांजे जैसी खराब चीजों को बिकवाने की मजबूरी से मुक्ति मिलेगी। देश का हर व्यक्ति सम्पन्न होगा। देश की अर्थव्यवस्था अत्यन्त मजबूत होगी और नई ऊंचाइयों को छुएगी। चारों ओर परस्पर सद्भाव, सहयोग, विश्वास व संतोष का वातावरण बनेगा। सम्पत्ति के प्रति अत्यन्त लालच व मोह में कमी आयेगी। हर व्यक्ति व्यवस्था के प्रति श्रद्धा रखेगा और सच्चाई के साथ उसका पालन करना अपना धर्म या कर्तव्य मानेगा। नक्सलवाद, आतंकवाद, अपराध व अन्य आपराधिक कृत्यों की प्रवृत्ति समाप्त होगी। समाज में परस्पर एकता व प्रेम मजबूत होंगे। प्रकृति का अनुचित विनाश नहीं होगा। पर्यावरण प्रदूषण से मुक्ति मिलेगी। शहरों पर आबादी का दबाव घट जायेगा और उजड़े गांव बस जायेंगे। ❑

जनसंचार के प्रवाह सूत्र

❑ अरुण तिवारी

नदी और जनसंचार...दोनों का लक्ष्य परमार्थी है। प्रत्येक नदी और जनसंचार माध्यम की अपनी सामर्थ्य, सीमा, भूगोल, चरित्र और आस्था होती है। इनके अनुसार ही दोनों को अपनी नीति व कार्यों का निर्धारण तथा निष्पादन के तरीके खोजने होते हैं। दोनों का यात्रा मार्ग चुनौतियों से खेलकर ही विस्तार हासिल कर पाता है। दोनों का काम, प्रकृति प्रदत्त जीवन की गुणवत्ता, जीवंतता और समृद्धि को बनाये रखने में अपना योगदान देना है। दोनों में शामिल होने वाले घटक, इनकी गुणवत्ता और स्वाद तय करते हैं। अतः दोनों के मूल स्रोत निर्मल होने चाहिए। दोनों का मालिकाना प्रदूषकों, शोषकों और अतिक्रमणकारियों के हाथ में नहीं होना चाहिए। दोनों के अपने-अपने पंचतत्त्व हैं। 'भ' से भूमि, 'ग' से गगन, 'व' से वायु, 'अ' से अग्नि और 'न' से नीर यानी भगवान, प्रकृति के पंचतत्त्वों का भी समूह है और नदी के पंचतत्त्वों का भी। ऊपरी तौर पर देखें तो संपादक, संवाददाता, गैर संपादकीय सहयोगी, मशीनें तथा श्रोता/पाठक/दर्शक के नाम से जाने जाना वाला वर्ग हमें जनसंचार माध्यमों का पंचतत्त्व लग सकते हैं, लेकिन असल में इन सभी के बीच संवाद, सहमति, संवेदना, सहभाग और सहकार के सूत्र, जनसंचार के पंचतत्त्वों की समृद्धि के सूत्र हैं। डार्विन के जीवन विकास के सिद्धांत को सामने रखें, तो हम पायेंगे कि ये पांच सूत्र, नदी के पंचतत्त्वों पर भी पूरी तरह लागू होते हैं।

जनसंचार और नदी ही नहीं, जैसे ही किसी भी संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया व विशेषण का उसे निर्मित करने वाले मूल तत्त्वों से सम्पर्क कटेगा, उसकी जीवंतता नष्ट होने लगेगी। वह अपना मूल गुण व गुणवत्ता खोने लगेगा। नाद् स्वर से नदी शब्द की उत्पत्ति है। जब हम नदी को सुरंग में कैद करते हैं; उसके तल से, सूर्य, प्राकृतिक हवा तथा उसके प्राकृतिक तल, ढाल तथा कटावों से उसका सम्पर्क काट देते हैं, जब हम नदी को बैराजों व बांधों में कैद करते हैं, नदी अपना नाद् स्वर खो देती हैं। इसी तरह राजमार्ग पर दौड़ लगाना, किन्तु पगडंडी से कट जाना; जनसंचार माध्यमों को लोगों की संवेदना और सोच से काट देता है; जनसंचार का नाद् मद्धिम पड़ जाता है।

जैसे कोई मलिन नाला जुड़कर नदी को प्रदूषित कर देता है, उसकी तरह जनसंचार में काले धन व मलिन विचार के प्रवाह का समावेश प्रदूषण का कारक बनता है। व्यवस्था में निरंतरता और नूतन की स्वीकार्यता का प्रवाह रुक जाये अथवा वह किसी एक वर्ग के हित में बंध जाये, तो उसके चरित्र का पानी सड़ने लगता है। दुनियाई अनुभव यहीं हैं और जीवंत बने रहने का बुनियादी सिद्धांत भी यही। अतः जनसंचार, और नदी...दोनों के लिए जरूरी है कि किसी भी स्थिति-परिस्थिति में इनका, इनके पंचतत्त्वों से सम्पर्क कटने न पाये। जिस मीडिया साथी समूह तथा उसके पाठकों/श्रोताओं/दर्शकों के बीच निर्मल संवाद, सहमति सहभाग, सहकार व संवेदना की निरंतरता कायम रहती है, वह मीडिया समूह जनसंचार के असल मकसद से कभी कट जाये, यह अप्रत्याशित घटना होगी।

मुझे लगता है कि मीडिया को आज नदी से बहुत कुछ सीखने की जरूरत है। प्रवाह के मार्ग में मौजूद पत्थरों से टकराने से नदी में ऑक्सीकरण की प्रक्रिया होती है। जिस तरह नदी इस प्रक्रिया से अपने जीवन के लिए ऑक्सीजन ग्रहण करती है, उसी तरह व्यवस्था और जनसंचार माध्यमों को भी चाहिए कि वे चुनौतियों से टकराने से डरें नहीं, बल्कि अपने प्रवाह को बनाये रखते हुए उनसे यह मानकर टकरायें कि उनका संघर्ष उन्हें और शक्ति प्रदान करेगा। इस पूरे घटनाक्रम के बीच नदी का धैर्य और आत्मसंयम भी गौर करने लायक तत्त्व है। ध्यान रहे कि नदी अपने धैर्य का तटबंध तोड़कर तभी भाग निकलती है, जब उसके गले बांध-बैराज से उसका गला घोंटने की कोशिश की जाती है अथवा तटबंधों में उसके हाथ-पांव बांध दिए जाते हैं। नदी को यह बेअदबी पसंद नहीं; फिर भी नदी लंबे समय तक यह अत्याचार सहती है। जब उसके भीतर की गाद, दर्द का टापू बनकर खड़ा हो जाता है, तब वह बंधन के तटबंध तोड़कर निकल पड़ती है, आजादी के किसी नये रास्ते पर। फिर जो भी रास्ते में आता है, नदी उसे भी अपने साथ लेकर आगे बढ़ जाती है। हमें चाहिए कि हम नदी के ऐसे सबकों से सीखने को हरदम तैयार रहें। क्या जनसंचार के माध्यम इस रास्ते पर हैं?

मैं कहता हूं कि एक क्षण को मान भी लिया जाय कि मीडिया सिर्फ एक व्यवसाय हो गया है! आप कह सकते हैं कि यह विज्ञापन और व्यवसाय की हरी झंडी पर संपादकीय की गाड़ी को दौड़ाने का दौर है; बावजूद इसके कुछ साहसी संपादकों की वजह से उम्मीद कायम है। लाभ के साथ शुभ के संयोग की सभी संभावनाएं अभी समाप्त नहीं हुई हैं। मीडिया के विकेन्द्रित लाखों हाथों को देखते हुए कह सकते हैं कि उम्मीद अभी जिन्दा है; आसमान अभी खुला है। अभी पूरे कुएं में भांग नहीं है। राष्ट्रीय दायित्व की पूर्ति को आर्थिक नफे-नुकसान की तराजू पर नहीं तोलने वाले अभी बहुत हैं। बहुत हैं, जो मानते हैं कि नकरात्मकता को नकारना और सकारात्मकता को फैलाना मीडिया ही नहीं, प्रत्येक नागरिक का राष्ट्रीय दायित्व है। असल चीज है, इन बहुतों की पीठ को थपथपा देना; सम्मान से सिर पर उठा लेना; गलत को टोक देना; रोक देना। यह मीडिया, समाज, साहूकार और सरकार सभी का दायित्व है।

यह सदी भले ही 21वीं हो; यह दुनिया भले ही वेबसाइटों पर मौजूद जानकारियों से भरी हो, किन्तु हमारे समाचार माध्यम सतही जानकारियों का पुलिन्दा हो गये हैं। 20वीं सदी की तुलना में आज की पीढ़ी ज्यादा तर्क और जानकारी मांगती है। लिहाजा, विज्ञान के साथ तथ्यों को पेश करने की जरूरत आज ज्यादा है। उस दौर की तुलना में आज भी प्रतिदिन फिल्म, खेल, आर्थिकी और राजनीति के लिए ही विशेष पन्ने हैं। किसी भारतीय दैनिक, टेलीविजन अथवा रेडियो समाचार चैनल ने प्रकृति के लिए प्रतिदिन कोई पन्ना अथवा समय आरक्षित किया हो, यह अपवाद ही होगा। पाठकों/दर्शकों/श्रोताओं तक शोधपरक जानकारी और समझ के न पहुंचा पाने की वर्तमान मीडिया शैली के कारण हमारी सरकारें जानबूझकर की जा रही अपनी बेसमझी और शब्दों को लोगों की समझ और जुबान पर बिठाने में कामयाब हुई है। हमारी नदियां भी इसका शिकार हुई हैं।

फरक्का बैराज के कारण कष्ट भोगती बंगाल-बिहार की जनता का कष्ट प्रत्यक्ष रूप से सामने है, लेकिन गंगा जलमार्ग को लाभ का मार्ग मानकर, सभी के शुभ की उपेक्षा हो रही है और मीडिया में चिन्ता और चिन्तन के प्रयास दिखाई नहीं दे रहे। तटबंध को लेकर कोसी, हर साल अपना दर्द बयां करती है। लेकिन फिर भी उत्तर प्रदेश सरकार गंगा एक्सप्रेस-वे को बनाने की जिद्द पर अड़ी है। पिछली मायावती शासन में प्रशासन ने इसके लिए गोलियां तक चलाने से परहेज नहीं किया। इलाहाबाद हाईकोर्ट द्वारा रोक के आदेश के बावजूद, बिना राष्ट्रीय गंगा नदी बेसिन प्राधिकरण की मंजूरी मिले वर्तमान अखिलेश सरकार ने नया टेंडर निकालने की तैयारी कर ली है। मीडिया इसे एक अच्छी कोशिश के रूप में पेश कर रहा है। प्रबंधन में व्याप्त लापरवाही, व्यापक खामियों तथा झूठ पर आधारित पर्यावरण प्रभाव अध्ययन रिपोर्ट के बावजूद, भारतीय जल-विद्युत परियोजनाओं में लेकर मैंने मीडिया के कई वरिष्ठ साथियों के मन में दुविधा देखी।

बाढ़-सुखाड़ को लेकर, सरकार की तरह मीडिया के कई साथियों को आज भी लगता है कि सभी नदियों को जोड़ दें, तो सब जगह पानी-पानी हो जायेगा; सब संकट मिट जायेगा। जलापूर्ति के लिए पीपीपी मॉडल अपना लिया जाये, तो सभी को स्वच्छ पानी मिल जायेगा। मीडिया, जल-मल शोधन संयंत्रों को छोड़कर नदी सफाई के अन्य विकल्पों पर कभी-कभी ही चर्चा करता है। जब मैंने लिखा कि घर-घर शौचालयों का सपना हमारी नदियों को निर्मल बनायेगा, तो मेरे कई मीडिया साथी इसे सहज स्वीकारने को तैयार नहीं हुए। यह सब क्यों है? क्योंकि हमने कभी नदी, नहर, कृत्रिम नाले और पानी के बीच के फर्क को समझने-समझाने की कोशिश ही नहीं की। हमने नदी को नेट पर ज्यादा खंगाला, नदी के पास जाकर उससे बातचीत की कोशिश कम की। इसकी एक अन्य और ज्यादा सटीक वजह मैं देखता हूं कि हमारे कई संपादक विषय की हकीकत से ज्यादा, इस पक्षपात को ध्यान में रखकर विषय का पक्ष-विपक्ष पेश करते हैं कि उनके मालिक किस राजनैतिक दल अथवा विचारधारा समूह का समर्थन करते हैं।

समझने की जरूरत है कि नदी की निर्मल कथा टुकड़े-टुकड़े में लिखी तो जा सकती है, सोची नहीं जा सकती। कोई नदी एक अलग टुकड़ा नहीं होती। नदी सिर्फ पानी भी नहीं होती। नदी एक पूरी समग्र और जीवंत प्रणाली होती है। अतः इसकी निर्मलता लौटाने का संकल्प करने वालों की सोच में समग्रता और दिल में जीवंतता व निर्मलता का होना जरूरी है। नदी की समग्र सोच यह है कि झील, ग्लेशियर आदि मूल स्रोत हो सकते हैं, लेकिन नदी के प्रवाह को जीवन देने का असल काम तो छोटी-बड़ी वनस्पतियां और उससे जुड़ने वाली नदियां, झरने, लाखों तालाब और बरसाती नाले करते हैं। 'नमामि गंगे' के योजनाकारों से पूछना चाहिए कि इन सभी को समृद्ध रखने की योजना कहां है?

आपको जानकर दुख होगा कि कोर्ट के आदेश पर नदी के किनारे अभी से नासिक म्युनिसपलिटी के बोर्ड लगे हैं—"गोदावरी का पानी उपयोग योग्य नहीं है।" कोई सरकार से पूछे कि इस दुर्दशा के बावजूद, नालों को नदियों में मिलाना क्यों जारी है? आज भारत की सरकारें नदियों पर कार्य-योजनाएं तो बना रही हैं। नदी प्रबंधन का सिद्धांत उसने आज तक क्यों नहीं बनाया? किस नदी को साल के किस अवधि में किस स्थान पर न्यूनतम कितना पानी मिले, जिससे कि नदी का पर्यावास सुरक्षित रह सके? नदी में कब-कहां और कितना रेत-पत्थर-पानी निकालने की अनुमति हो? इसका कोई तय सिद्धांत होना चाहिए कि नहीं? नदी निर्मलता का सिद्धांत क्या हो? नदी को पहले गंदा करें और फिर साफ करें या नदी गंदी ही न होने दी जाये? कोई नाला कचरे को पहले ढोकर नदी तक लाये, हमारे संयंत्र फिर उसे साफ करें या कचरे का निस्तारण कचरे के मूल स्रोत पर ही किया जाये? नदी भूमि को हरित क्षेत्र बनाकर नदी को आजाद बहने दिया जाये या 'रिवर फ्रंट व्यू डेवलपमेंट', एक्सप्रेस वे और इंडस्ट्रियल कॉरीडोर के बीच में फंसकर मरने के लिए छोड़ दिया जाये? ये सवाल पूछे जाने चाहिए कि नहीं?

बहुत जरूरी है कि व्यापक सरोकार के विषयों पर मीडिया के साथी आपस में सतत संवाद करें। इसके लिए हर स्तर पर मीडिया चौपालें आयोजित हों, जिनमें विषय की बुनियादी समझ विकसित करने की कवायद हो। विषय को लेकर फैले भ्रम और हकीकत के बीच की खाई पाटी जाये। दिमागों के जाले साफ करने के नैतिक प्रयासों को भी गति दी जाये। शोध, समझ और संवेदना का वह दौर वापस हो, तो नदियों के साथ संवेदना रखने वाले जी उठेंगे; साथ-साथ नदियों के जीने की उम्मीद भी। इसमें प्रेस क्लब और पत्रकार संघों की भूमिका अहम हो सकती है। किन्तु इसके लिए उन्हें खान-पान और निजी सरोकारों का अड्डा बनने के बजाय, व्यापक सरोकारों पर पहल के वास्तविक जनसंचार जंक्शन में तब्दील होना होगा। क्या वे होंगे? ❑

पठानकोट हादसा : आजादी के बाद सबसे बड़ी चूक

❑ चिन्मय मिश्र

पठानकोट के वायुसेना अड्डे पर न होता तो कहीं और होता, लेकिन पाकिस्तान की ओर से इस समय ऐसा आतंकी हमला होना तकरीबन तय था। आम भारतीय नरेन्द्र मोदी के लाहौर से 'लंच' करके 'डिनर' के लिए दिल्ली रवाना होने के पहले ही अपने आसपास की हवाओं में बारूद की महक सूंघ पा रहा था। मगर हमारा शासन और प्रशासन अपने ही गुप्तचर विभाग की सूचनाओं की अनदेखी करता रहा। इतना ही नहीं आई.पी. एस. अधिकारी सलविंदर सिंह द्वारा अपने अपहरण की सूचना का मखौल उड़ाता रहा। वास्तविकता यह है कि पठानकोट वायुसेना अड्डे पर हुए हमले से अपनी जान छुड़ाने या ध्यान हटाने के लिए हम पाकिस्तान के प्रधानमंत्री को चाहे जितना भी भला-बुरा कहें, लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि हम आज अपने सुरक्षातंत्र की खामियों पर ही ध्यान दें। पाकिस्तान पहले भी इसी तरह की गतिविधियां करता आया है और इस बात की पूरी संभावना है कि वह आगे भी करता रहेगा। परंतु सवाल यह उठता है कि 26/11 के बाद भी यदि हम नहीं संभले और एशिया का सबसे विशाल सैन्य हवाई अड्डा, जो कि सीमा से सिर्फ 30 किलोमीटर दूर है, 100 घंटे तक महज 6 आतंकवादियों से निपटने के लिए बंद हो जाता है तो हमें सहज ही अंदेशा होने लगता है कि हम कितने सुरक्षित हैं।

एन.एस.जी., थल सेना और वायु सेना के कमांडो बलों का पैनापन हमें किस दिन दिखायी देगा? बी.एस.एफ. की सीमा चौकसी कब त्रुटिरहित होगी? यदि पंजाब पुलिस सेना द्वारा सहायता दिये जाने के अनुरोध को ठुकराने के बाद भी अपनी गलती नहीं मानती और उस पुलिस बल के एक भी अधिकारी को एक हफ्ते बाद भी निलंबित तक नहीं किया जाता तो यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि शासन-प्रशासन पर किसका नियंत्रण है। यह कहा जा रहा है कि पंजाब की वार्षिक योजना से कई गुना ज्यादा बड़ी अर्थव्यवस्था अवैध नशीले पदार्थों की है। वहीं गुरदासपुर हमले के बाद उसी स्थान से पुनः आतंकवादियों का प्रवेश साफ दर्शा रहा है कि यह नींद नहीं है, बल्कि आंखे जान-बूझकर बंद कर रखी हैं। भारत में किसी भी लोकतंत्र समर्थक को शायद यह कहने में शर्म महसूस होगी, लेकिन आज दुखी होकर यह कहना पड़ रहा है कि पंजाब के हालात सुधारने के संविधान की धारा 356 (अर्थात राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में उपबंध) को लागू किया जाना अनिवार्य-सा लग रहा है। केन्द्र की भाजपा सरकार के लिए यह थोड़ा असमंजस भरा होगा क्योंकि वहां उनके ही समर्थन की सरकार है। राज्य के चार-छह पुलिस अफसरों पर कार्यवाही करने मात्र से कोई समाधान नहीं निकलेगा। गुरु ग्रंथ साहब के जलाए जाने के बाद हुए दंगे, बब्बर खालसा का पुनः उदय और राज्य के 70 प्रतिशत युवाओं के नशीली दवाओं के जाल में फंस जाने के बावजूद क्या यह विश्वास किया जा सकता है कि वहां संविधान और कानून का राज है? पठानकोट आतंकी हमले के बाद यह सुनिश्चित हो गया है कि वहां अब केन्द्र को सीधे हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा। हमें राष्ट्र को गरिमापूर्ण ढंग से संचालित करने हेतु दलगत राजनीति के स्थान पर साफ-सुथरी राजनीति को प्रोत्साहित करना होगा।

माना कि इन फिदायीनों को पाकिस्तानी सेना ने प्रशिक्षित किया है, लेकिन यह बात समझ से परे है कि छः फिदायीन क्या कोई असाधारण शक्ति से लैस थे जो कि इतनी भारी मात्रा में गोला बारूद पीठ पर लादकर 10-12 फीट ऊंची दीवार फांद गए? भारतीय वायु सेना स्वयं इनसे निपटने में सक्षम क्यों नहीं थी? नजदीक ही थल सेना की विशिष्ट कमांडो दस्तों की मौजूदगी के बावजूद दिल्ली से संभ्रांत (इलीट) एन.एस.जी. की रास्ता क्यों देखी गयी? इतने विशाल सैन्य विमान अड्डे को संचालित करने वाले बल के पास इतनी लचर सुरक्षा व्यवस्था क्यों थी? या वह यह मानकर बैठे थे कि इस वायुसेना अड्डे की ओर कोई उठाकर भी नहीं देख सकता? सबसे विचित्र बात यह सामने आयी कि देश के गृहमंत्री और रक्षामंत्री कमोबेश एक ही समय अलग-अलग बयान दे रहे थे।

यह घटना हमारे लोकतांत्रिक कलेवर को भी कटघरे में खड़ी कर गयी। जिस समय यह घटना हुई तब प्रधानमंत्री कर्नाटक में थे। दिल्ली लौटने के बाद उन्होंने बजाय सुरक्षा संबंधी मंत्रिमंडलीय समिति (केबिनेट कमेटी ऑन सिक्योरिटी) की बैठक बुलाने के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एवं विदेश सचिव से मंत्रणा की। इस बैठक में गृह सचिव एवं रक्षा सचिव भी संभवतः शामिल नहीं थे या उनका उल्लेख करना भी गवारा नहीं किया गया? कायदे से सबसे पहले मंत्रिमंडलीय समिति से बात होनी थी और प्रशासन के स्तर पर निर्देश देने के बाद अन्य राजनीतिक दलों के साथ चर्चा कर उन्हें विश्वास में लिया जाना था। हम एक संसदीय लोकतंत्र हैं और यहां प्रत्येक फैसला राजनीतिक तौर पर ही लिया जाना चाहिए। परंतु इस मामले में ऐसा कुछ भी नहीं किया गया।

हम सभी जानते हैं कि बिना स्थानीय सहयोग के दूसरे देश के आतंकवादी हमारे यहां आक्रमण नहीं कर सकते थे। हमारे राजनीतिक तंत्र की यह विशिष्टता है कि वह लोकतंत्र की ढपली पीटते हुए तनाव, अतिवाद या आतंकवाद को समाप्त करने के लिए अक्सर चर्चा का द्वार खोलता ही नहीं। जब भी उसने चर्चा के रास्ते को अपनाया है, उसके अच्छे परिणाम ही निकले हैं। इस संदर्भ में सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा भी है कि, *''आतंकवादी आंदोलन सदा सामाजिक सम्प्रेषण में किसी तरह के अवरोध का ही परिणाम होता है। यह सम्प्रेषणहीनता मानव समूहों के पास-पड़ोस में रहते हुए भी वर्ग, वर्ण, मूल, मजहब, भाषा और सामाजिक स्थितियों की भिन्नता से पैदा होती है। एक स्थूल रूप में यह शासक और शासितों के बीच की सम्प्रेषणहीनता का परिणाम होता है। जहां लोकतंत्र का अभाव है वहां तो यह सम्प्रेषणहीनता होगी ही, क्योंकि शासितों को अपनी इच्छा जताने का कोई माध्यम उपलब्ध नहीं होता।''*

अतएव आज जब हम पाकिस्तान पर उंगली उठा रहे हैं तो बाकी चार उंगलियां खुद-ब-खुद हमारी ही तरफ उठ रही हैं। पाकिस्तानी आतंकवादी फिर वह मौलाना अजहर मसूद हो या हाफिज सईद, वह संगठन जैशे-मोहम्मद हो या लश्करे तैयबा या फिर पाकिस्तानी सेना हो या आई. एस. आई., उनके बारे में विवेचना करना ही व्यर्थ है, खासकर आक्रमण हो जाने बाद। सबसे बड़ी बात यह है कि पठानकोट हमला आजादी के बाद की हमारी सबसे बड़ी चूक है। क्योंकि तमाम गुप्तचर जानकारियों के बावजूद हमारा सैन्य ठिकाना उनके हमले का शिकार हुआ है। इस हमले से वैश्विक स्तर पर हमारी सैन्य क्षमता को लेकर पहली बार शंका की स्थिति बन रही है। पंजाब सरकार की गैर जिम्मेदाराना व्यवहार की कीमत सारा राष्ट्र क्यों चुकाए?

यह ऐसा मसला था, जिस पर प्रधानमंत्री को स्वयं राष्ट्र को विश्वास में लेना था, लेकिन हमेशा की तरह वे इस बार भी चुप्पी साध गए। उन्हें राष्ट्र को यह भी बताना चाहिए था कि 25 दिसंबर को उनकी पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ से क्या चर्चा हुई थी। राजनीति में गोपनीयता की भी एक सीमा होती है। परंतु हमारे यहां तो 'राष्ट्रहित' और 'मौन' को पर्यायवाची बनाने का प्रयास चल पड़ा है। आम जनता से सारी जानकारियां छुपाई जा रही हैं। पठानकोट आतंकी हमला हमसे नये किस्म की बहस की दरकार कर रहा है। अब समय आ गया है कि हम अपनी कमियों का खुलकर विश्लेषण करें और यह राग अलापना छोड़ें कि 'विश्व' क्या सोचेगा। साथ ही हमें 'विश्वगुरु' के फुगावे से भी बाहर निकलना चाहिए। कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक प्रार्थना गीत में भगवान से प्रार्थना की—*संसारेते लाभिले क्षति, पाइले सुघु वंचना। तोमाके जेन ना करि संशय।* अर्थात् संसार में केवल नुकसान ही उठाना पड़े, धोखा ही खाना पड़े तो ऐसे अवसरों पर भी प्रभो, ऐसी शक्ति दो कि मैं तुम्हारे ऊपर संदेह न करूं। याद रखिए, राजनेता देवता नहीं होते। ❑

आवश्यक सूचना

'सर्वोदय जगत'

के सभी सुहृद पाठकों, ग्राहकों, लेखकों व शुभ-चिन्तकों को सूचित करना है कि सर्व सेवा संघ-प्रकाशन की वेबसाइट

www.sssprakashan.com

पर 'सर्वोदय जगत' का प्रत्येक अंक उपलब्ध कराया जा रहा है। कृपया वेबसाइट देखें।

वरिष्ठ सर्वोदय सेवक हनुमानदास स्वामी का निधन

वरिष्ठ सर्वोदय सेवक तथा राजस्थान के रचनात्मक क्षेत्र के कर्मठ कार्यकर्ता श्री हनुमानदास स्वामी का गत 5 जनवरी, 2016 को सांगानेर (जयपुर) में निधन हो गया। आप 92 वर्ष के थे।

स्व. हनुमानदास स्वामी के निधन पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष श्री महादेव विद्रोही तथा राष्ट्रीय प्रवक्ता श्री भवानीशंकर कुसुम ने कहा कि स्वामीजी के लम्बे सार्वजनिक जीवन, विशेषकर सर्वोदय और गांधी-विचार के क्षेत्र में किये गये कार्य अविस्मरणीय हैं। राजस्थान प्रदेश सर्वोदय मंडल के माध्यम से की गयी स्वामीजी की सेवाओं का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। दुःख की इस घड़ी में सर्वोदय समाज उनके परिजनों के साथ है।

उल्लेखनीय है कि 2014 में विद्यावाड़ी (खीमेल, राजस्थान) में आयोजित सर्व सेवा संघ अधिवेशन के अवसर पर स्व. स्वामीजी का उनकी अनवरत सेवाओं के लिए अभिनंदन किया गया था।

राजस्थान प्रदेश सर्वोदय मंडल की अध्यक्ष श्रीमती आशाबहन बोथरा तथा सचिव श्रीमती शशिबहन त्यागी ने भी अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की। **–भवानीशंकर कुसुम**

सूचना

सर्व सेवा संघ प्रकाशन समिति, वाराणसी के संयोजक की जिम्मेवारी में फेरबदल कर श्री अरविन्द अंजुम को संयोजक नियुक्त किया गया है। उन्होंने 16 जनवरी, 2016 से प्रकाशन के नये संयोजक के रूप में जिम्मेवारी सँभाल ली है।

उल्लेखनीय है कि श्री अंजुम जनमुक्ति संघर्ष वाहिनी के राष्ट्रीय संयोजक रह चुके हैं तथा नियमित लेखन से जुड़े रहे हैं।

–स. ज. प्रतिनिधि

गांधी यानी जो-जो जँचा, उसका फौरन आचरण करना

❑ प्रो. ठाकुरदास बंग

हमने पश्चिम की अंधी नकल की। इसलिए स्वराज्य में से गांधी की कल्पना का रामराज्य प्रकट होने के बजाय हरामराज्य निर्माण हुआ है क्योंकि आज कम-से-कम काम और आधिक-से-अधिक दाम, यह अधिकांश लोगों का मंत्र बन गया है। यह तो हराम है। मिट्टी दूषित हुई, पानी दुर्लभ हुआ, हवा खराब हुई साथ ही राष्ट्र की एकात्मता और शांति भंग हुई।

गांधी-विचार हमने देखा है। भारत माता के इस अद्वितीय पुत्र के विचारों को आजाद भारत भूल गया। पश्चिमी सभ्यता से भारत सम्मोहित हुआ और उस बाढ़ में बह गया। पश्चिम की नीति-निरपेक्ष राजनीति और अर्थनीति भारत ने स्वीकार की। आज 6 दशकों से अधिक वर्षों से भारत की जनता और सरकार इस रास्ते पर चल रही है। परिणामस्वरूप आजादी को 6 दशक से अधिक हो जाने पर भी गरीबी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, व्यसन, दहेज, जातिभेद, साम्प्रदायिक दंगे इत्यादि समाप्त नहीं हुए। इतना ही नहीं, उलटे उनमें वृद्धि ही हुई है। स्वदेशी का मंत्र भूलकर सैकड़ों बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और विदेशी कर्ज के जाल में भारत फँस गया है। गांधीजी के स्वावलम्बन के सिद्धान्त को देश ने कभी का छोड़ दिया है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व में देश से अलग होने के लिए हिंसक कार्रवाई चल रही है।

देश की यह दुर्दशा क्यों हुई? भारत अपने राष्ट्रपिता की सीख को भूल गया, यही इसका प्रमुख कारण है। आज रूस और पूर्वी यूरोप के राष्ट्र साम्यवाद को छोड़ रहे हैं। अमेरिका सरीखे पूँजीवादी राष्ट्रों में भी बेरोजगारी है। हवा-पानी-मिट्टी का प्रदूषण, जंगलों का नाश, अम्ल-वृष्टि आदि वहां हो रहे हैं। अणु-शक्ति के खतरे और अणुबम से मानव का जीवन ही समाप्त हो जायेगा, ऐसा डर दुनियाभर में व्याप्त है। ढाई लाख से अधिक किसानों ने गत एक दशक में कर्ज वापस करने की असमर्थता के कारण आत्महत्या की है। भोगवाद के कारण दो-चार पीढ़ियों के बाद भू-गर्भ में लोहा, कोयला, पेट्रोल, पानी आदि खनिज पदार्थ समाप्त हो जायेंगे। फिर आगे आने वाली पीढ़ियां क्या करेंगी? भोग की अमर्यादित लालसा के कारण क्या हम 'ययाति-संस्कृति' को चलाने वाले हैं? गांधीजी ने कहा था, *'सबकी सारी आवश्यकताएं पूर्ण करने की सामग्री धरती माता के पास है, लेकिन एक भी आदमी का लोभ पूरा करने के लिए सारी धरती अपर्याप्त रहेगी।'* क्योंकि लोभ का अंत नहीं है। तो फिर हम किस रास्ते पर चलें? दुनिया में दो रास्ते हैं। *एक है पश्चिमी, दूसरा है गांधी का।* आज भारत पहले रास्ते पर चल रहा है। अगर गांधी-मार्ग पर देश 6 दशकों से चलता आया होता तो कभी का सबको काम मिल गया होता और गरीबी इतिहास में दाखिल हो गयी होती। गांव और नगर तेजस्वी बनते। शराब समाप्त होती। सामाजिक समानता होकर दहेज भूतकाल का विषय बन जाता। शिक्षा में सार्थक परिवर्तन होता और युवकों तथा राष्ट्र में आनन्द छा जाता। लेकिन हमने गांधी का रास्ता पसंद नहीं किया। आज भी दोनों मार्गों की तुलना कर हमें—खासकर तरुणों को—एक को चुनना चाहिए।

आज गांधी-विचार की ओर दुनियाभर के विचारकों का—खासकर युवकों का ध्यान गया है। दुनियाभर में इस दिशा में प्रयोग हो रहे हैं। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे देश में गांधी-विचार पर कभी गम्भीरता से विचार तक नहीं किया गया। हमने पश्चिम की अंधी नकल की। इसलिए स्वराज्य में से गांधी की कल्पना का रामराज्य प्रकट होने के बजाय हरामराज्य निर्माण हुआ है क्योंकि आज कम-से-कम काम और आधिक-से-अधिक दाम, यह अधिकांश लोगों का मंत्र बन गया है। यह तो हराम है। मिट्टी दूषित हुई, पानी दुर्लभ हुआ, हवा खराब हुई साथ ही राष्ट्र की एकात्मता और शांति भंग हुई।

इस स्थिति को बदलकर राष्ट्रभर में मनोमंथन हो। इसलिए गांधी-विचार की प्रासंगिकता भारत में जाननी चाहिए। बेरोजगारी, केन्द्रीयकरण, प्रदूषण और हिंसा, ये देश के प्रमुख आर्थिक, राजनैतिक, पर्यावरणीय और सामाजिक प्रश्न हैं। इन समस्याओं को लेकर पूरे राष्ट्र में विचार-मंथन शुरू हो :

1. खादी-ग्रामोद्योग का स्वीकार और केन्द्रीय उत्पादनों का यथासम्भव बहिष्कार, (2) ग्रामसभा को—शहर में मुहल्ला सभा को—गांव-नगर के कारोबार की सत्ता का हस्तांतरण और (3) हिंसा का सर्वथा त्याग—सजीव खेती। इन कार्यक्रमों का प्रसार हो। इससे राष्ट्र चिर-निद्रा में से जगेगा और वैचारिक क्रांति का आरम्भ होगा, ऐसी आशा है।

हमारे उद्धार के लिए गांधी जैसे महामानव को भगवान ने भारत में भेजा, यह उसकी महान कृपा हुई। गांधी ने निःशस्त्र राष्ट्र को स्वतंत्र किया। असम्भव लगने वाला यह काम उन्होंने प्रत्यक्ष कर दिखाया। यह एक चमत्कार हुआ। हमने उन्हें 'राष्ट्रपिता' की पदवी प्रदान की। और उन्हीं का विचार भारत ने छोड़ दिया। यह कितनी कृतघ्नता है!

गोडसे ने गांधी के शरीर की हत्या की। यह अति निन्दनीय काम उसने किया। लेकिन हमने उनकी विचारधारा को यानी उनकी आत्मा को ही तिलांजलि दे दी है।

इसलिए भारत आज महान संकट में फँस गया है। आम जनता की भौतिक प्राथमिक आवश्यकताएँ इन छः दशकों से अधिक की अवधि में पूरी नहीं हुईं। और पिछले दो हजार वर्षों में भारत का जितना नैतिक पतन नहीं हुआ होगा, उतना आज हुआ है। गांव उजड़ गये हैं और पराधीन हो गये हैं। महानगरों का जीवन नरक के समान हो गया है। इसलिए फिर से महात्मा की शरण में जाकर उनके विचार के अनुसार अपना और राष्ट्र का निर्माण हम करें। इसी में हमारा कल्याण है। दुनियाभर के कई नोबल पुरस्कार विजेताओं ने दो दशक पूर्व दुनिया को आवाहन किया कि दुनिया के शोषण और विश्व-युद्ध को समाप्त करने के लिए दुनिया गांधी-मार्ग का अवलम्बन करे; क्योंकि यही एकमात्र मार्ग है। काश! हम इस आवाहन को सुनें।

लेकिन गांधी यानी क्या? गांधी यानी नैतिकता, गांधी यानी विकेन्द्रीकरण, गांधी यानी साधन-शुचिता, गांधी यानी दरिद्र-नारायण से एकरूपता, गांधी यानी जन-सेवा, गांधी यानी रचनात्मक कार्य, गांधी यानी अन्याय के सामने घुटने न टेकते हुए अन्याय का, पशुबल से नहीं, आत्मबल से यानी सत्याग्रह से संघर्ष करना, गांधी यानी व्यक्ति और व्यवस्था—दोनों में समग्र सम्पूर्ण परिवर्तन, गांधी यानी गलत व्यवस्था से असहयोग, गांधी यानी स्वदेशी का आग्रह—पड़ोस में बनी हुई चीजों को खरीदना और दूर की तत्सम्बन्धी चीजों का यथासम्भव बहिष्कार। गांधी यानी जो-जो जँचा, उसका फौरन आचरण करना।

जब तक आकाश में चाँद-सूरज है, सितारे हैं और पृथ्वी पर मानव है, तब तक महात्मा गांधी अजर-अमर रहेंगे। ❑

आशंका और आकांक्षा

एक दिन मैंने अपनी बेटी से उसकी सबसे अच्छी सहपाठिन का नाम पूछा। उसका जवाब था—''नूर। वह मुसलमान है।'' मैं सन्न रह गया। नूर, स्कूली वर्दी में आती है। उसके शरीर पर मुसलमान होने का कोई निशान नहीं है। फिर मेरी बेटी को किसने बताया कि नूर, मुसलमान है। मैंने तो कभी नहीं बताया। क्या मुसलमान होना ही नूर की पहचान है?

दूसरी घटना तब घटी, जब मेरे स्कूल के दिनों के साथी अमरजीत जी जब पहली बार मेरी बेटी से मिले। उन्होंने अपने बारे में पूछा कि वह कौन है। बेटी ने तपाक से उत्तर दिया—सिख। अमरजीत, हतप्रभ थे और मैं, शर्मिन्दा। हम दोनों ने अपेक्षा की थी कि उसका जवाब 'चाचू' या 'अंकल' होगा। उन्होंने पूछा कि उसे किसने बताया। वह बोली, ''आपके सिर पर पगड़ी है न, इसने।''

हालांकि दोनों बार बिटिया ने जवाब सहज भाव से ही दिया था, किन्तु इसने मुझे दुखी किया कि उसमें भिन्नता के बीज पड़ गये हैं। मुझे तो आजकल साम्प्रदायिक सद्भाव के नारे लगाते भी संकोच होता है। ये नारे भी तो हमारा परिचय एक इंसान या भारतीय के रूप में न कराकर, हिन्दू-मुसलमां-सिख-ईसाई के तौर पर कराते हैं। कभी-कभी लगता है कि पाठ्यक्रमों से कौमी भिन्नता के निशानों से परिचय कराने वाले पाठों को हटा देना चाहिए। खैर, मेरी चिन्ता और जिज्ञासा तब और ज्यादा बढ़ जाती है, जब मुझे मेरे कई हिन्दू करीबियों की दिलचस्पी, हिन्दुओं का गौरव गान करने से ज्यादा, मुसलमानों और ईसाइयों को खतरनाक सिद्ध करने में ज्यादा दिखती हैं।

मेरा गांव अमेठी के जिस इलाके में है, वहां मुसलिमों की आबादी कम नहीं। पीढ़ियों से इलाके का कपड़ा सिलने वाले, हमारे सार्वजनिक उत्सवों और शादियों में गोला-पटाखे दगाने वाले और मंदिरों के बाहर फूलमाला बेचने वाली मालिनें...सब मुसलमां हैं। सबसे हमारा सुख-दुख का रिश्ता है; आना-जाना है; बावजूद इसके बाबरी मसजिद विध्वंस के बाद अपनी पहचान के निशानों के लिए उनकी बेचैनी देखकर भी मैं चिन्तित हूं।

हिन्दुवादी संगठन भी भारत को हिन्दू राष्ट्रवाद के डंडे से हांकने की कोशिश में इतनी शिद्दत के साथ लगे हैं, मानो हिन्दू राष्ट्र रहते हुए नेपाल ने कुदरत और दुनिया की सारी नियामतें पा ली थीं या फिर हिन्दू राष्ट्र रहते हुए नेपाल में आपसी वैमनस्य का कोई आंदोलन ही नहीं हुआ। आखिर वह क्या है, जो लोकतांत्रिक व्यवस्था अपनाकर नेपाल ने खोया और हिन्दू राष्ट्र होते हुए उसने हासिल कर लिया था? गौर कीजिए कि भारत में भाजपा सरकार आने के बाद से नेपाल को हिन्दू राष्ट्र बनाने की मांग को फिर हवा देने की कोशिश की गयी। सफल नहीं होने पर नाराजगी जतायी गयी।

दुर्भाग्यपूर्ण है कि इतने वर्षों बाद भी पाकिस्तान और भारत आपस में क्रमशः एक मुसलमां और हिन्दू राष्ट्र की तरह ही व्यवहार कर रहे हैं। जर्मनी, रूस समेत दुनिया के कई देशों का विभाजन हुआ, किन्तु विभाजन पश्चात् आपसी सरकारों में ऐसा साम्प्रदायिक रंज किन्हीं और दो देशों में नहीं। जिन्ना ने मृत्यु पूर्व भारत-पाकिस्तान के एक हो जाने की इच्छा जाहिर की थी। दोनों मुल्कों के कितने लोगों के मन में आज भी है कि दोनों मुल्कों के शासन, साम्प्रदायिक कट्टरता त्यागें। कश्मीर के मसले पर हिन्दू-मुसलमां के तरफदार होकर हल करने की जिद्द छोड़ें। एक दोस्त की तरह रहें। अपना ध्यान, एक-दूसरे का नुकसान करने की बजाय, तरक्की में सहयोग के लिए लगायें। इन्हीं तमाम आकांक्षाओं और आशंकाओं ने मुझे हिन्दू-मुसलिम कट्टरता, मिथक और यथार्थ को जानने को तैयार किया। **–अरुण तिवारी**

सर्वोदय-विचार की खूबी

❑ विनोबा

एक भाई ने कहा, ''वैसे मेरी सर्वोदय-समाज के साथ पूरी सहानुभूति है, लेकिन मैं उसमें इसलिए दाखिल नहीं होता कि उसमें राजनीति नहीं है और इन दिनों बिना राजनीति के कोई सामाजिक क्रांति हो नहीं सकती।'' मैंने कहा, इसमें आपने तीन कथन किये हैं और तीनों के मूल में भ्रम रहा है। एक तो आपने यह समझा कि सर्वोदय-समाज में दाखिल होना पड़ता है। ऐसी बात नहीं है। जो सर्वोदय-विचार मानता है, वह सर्वोदय-समाज में है ही। जो नाम दर्ज करेगा, वही सर्वोदय-समाज का सेवक होगा, ऐसी कल्पना नहीं है। नाम तो दर्ज होंगे चंद हजारों के, लेकिन हम आशा करेंगे कि समाज के अलिखित सेवक होंगे लाखों। जिनके नाम दर्ज नहीं होंगे, वे अगर कहते हैं कि 'हम सर्वोदय-समाज के हैं' तो वे हैं। दूसरी बात आपने यह मानी कि सर्वोदय-विचार में राजनीति नहीं है। केवल सत्ता का लोभ रखने वाली अदूरदर्शी राजनीति उसमें नहीं है, क्योंकि वैसी राजनीति सर्वोदयकारी नहीं होती, स्वार्थी या स्वकीयार्थी होती है। तुलसीदासजी का एक बहुत ही मार्मिक वचन है कि 'अपना भला चाहने वाले तो सब होते हैं। अपनों का भला चाहने वाले भी कुछ होते हैं, लेकिन सबका भला चाहने वाले तो हरि-चरणों के दास ही होते हैं।' हरि-चरणों के दास विशिष्ट पक्ष की राजनीति को पसंद नहीं कर सकते। शक्ति क्षयकारी राजनीति, तोड़ने वाली राजनीति उनकी नहीं होती, लेकिन सबको जोड़ने वाली, सबकी शक्ति का वर्धन करने वाली उनकी एक राजनीति होती है।

तीसरा आपका यह ख्याल दीखता है कि आधुनिक जमाने में सामाजिक क्रांति राजनीति के आधार पर ही हो सकती है। भावी काल को न पहचानने के ये लक्षण हैं। एक सत्ता के दिन गये, अल्पसंख्या के दिन गये, बहुसंख्या के सत्ता के दिन भी जा रहे हैं और अब सबकी सत्ता के दिन आ रहे हैं। यह जो देखता है, वही देखता है। सबकी सत्ता यानी सबके सिर्फ वोट नहीं, हार्दिक सहकार। सबमें मैं हूं और मुझमें सब हैं, इस अनुभूति की सत्ता का युग आ रहा है। उसके अनुकूल हम हुए तो हमें सफलता मिलेगी। नहीं तो हमारे बावजूद वह आने वाला ही है। यह विचार-क्रांति की बात है। विचार-क्रांति किसी भी युग में राजकारण की दासी नहीं हो सकती, इस युग में भी नहीं। दीखने में तो यों दीखेगा कि सत्ता हाथ में आयी तो फौरन फर्क कर देंगे, अपनी मर्जी के मुताबिक शिक्षा चलायेंगे और सबके दिमाग अपने विचारों से भर देंगे। लेकिन यह निरा आभास है। ताश का बंगला जैसे बनता है, वैसे ही गिरता है। जहां राजकीय सत्ता ने शिक्षा पर काबू चलाया और सबको एक विचार वाले, यानी स्वतंत्र-विचार-शून्य बनाया, वहां उस सत्ता के संपूर्ण उच्छेद की तैयारी हो गयी। एक हवा का झोंका आया और मीनार गिर पड़ा।

सर्वोदय-विचार की खूबी ही यह है कि वह स्वतंत्र और भिन्न-भिन्न विचारों की गुंजाइश रखता है। विशिष्ट व्यवस्था या विशिष्ट बाह्य आकार का आग्रह नहीं रखता; वह शिकंजे को नहीं मानता। ढांचा बनाना नहीं चाहता। वह संघटन को शक्तिशाली नहीं मान बैठता, बल्कि सत्य की शक्ति पहचानता है। अशक्ति संघटित हुई कि शक्ति बन गयी, ऐसे आभास में वह नहीं फंसता। यह एक शक्तिमान बनने का आसान तरीका आलसी लोगों ने ढूंढ़ लिया है। बीमारों के संगठन से ही अगर आरोग्य बनता तो न वैद्यों की जरूरत रहती, न दवाइयों की और न पौष्टिक अन्न की। हिंसा में यह सब चल जाता है। दस लाख की फौज खड़ी की हो गया सारा राष्ट्र बलवान। सिपाहियों की जीत हुई तो कहते हैं देश की जीत हुई। लेकिन सिपाहियों को भोजन मिला तो यों नहीं कह सकते कि देश को भोजन मिला। कहते हैं संघ-शक्तिः कलियुगे। लेकिन पहचानते नहीं कि कलियुग अब है नहीं। अब है कृतयुग, कृति-युग, सत्कृति-युग। कलियुग तो कब का खतम हुआ। जब मैं जाग गया तो कलियुग कहां रहा? इसलिए लड़ाई जीतकर या चुनाव जीतकर भी हम सर्वोदय जायेंगे ऐसे भ्रम में हमें नहीं रहना चाहिए।

संगठन में सर्वोदय क्यों नहीं पड़ता, इसकी यह दृष्टि है। मैंने कहा कि सर्वोदय का सेवक हर काम करने के लिए मुक्त है। अगर वह जरूरत समझे तो स्थानिक संघटना भी कर सकता है। वह विचारनिष्ठ संघटना होगी। उसमें हरएक व्यक्ति का हरएक व्यक्ति से पूर्ण परिचय होगा। उसमें दंभ के लिए गुंजाइश नहीं रहेगी। उसमें अभिमान का प्रवेश नहीं होगा। जहां छोटे पैमाने पर एक चीज बनती है, वहां इन दोषों को टालना सुकर होता है। लेकिन दंभ और अभिमान ऐसे सूक्ष्म दोष हैं कि वे कहीं भी प्रवेश कर सकते हैं। अगर सेवक देखेगा कि उसकी छोटी-सी संघटना में भी ये दोष घुस रहे हैं, तो वह उस संघटना को तोड़ेगा। वह ऐसा मौका ही नहीं आने देगा। लेकिन वह जो भी करेगा, उसकी सारी जिम्मेवारी उसकी निज की होगी। अपनी जिम्मेवारी समझकर वह करेगा और भरेगा। ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए महामंत्री, शेख हुसैन द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा सुरभि प्रिन्टर्स, इंडियन प्रेस कॉलोनी, मलदहिया, वाराणसी से मुद्रित। संपादक : बिमल कुमार। छपी प्रतियाँ : 1450